अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अनेक गुरुकुलोंके प्रतिष्ठाता

तत्त्वज्ञानी, महाव्रती

पूज्य श्री मुनि समन्तभद्र जी महाराजको

उनके करकमलोंमें

सविनय

समर्पित

श्रद्धावनत

—दरबारीलाल कोठिया

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थसंकेत-सारिणी

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थप्रकाशन-स्थान
अष्टस.	अष्टसहस्री	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
अष्टश. अष्टस.	अष्टशती-अष्टसहस्री	,, ,,
आप्तमी.	आप्तमीमासा	जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी-संस्था, कलकत्ता,
का.	कारिका	× × ×
जैनतर्कभा.	जैनतर्कभाषा	सिघी जैन सीरीज बम्बई
जैनद.	जैनदर्शन	डा. महेन्द्रकुमारजी, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी
तत्त्वस.	तत्त्वसग्रह	ओरियण्टल सीरीज, बडौदा
तत्त्वा. भा.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	देवचद लालभाई फण्ड, सूरत
तत्त्वार्थवा.	तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थश्लो. वा. / त. श्लो. वा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
तत्त्वार्थसू.	तत्त्वार्थसूत्र	कापडिया, सूरत
नयचक्रस	नयचक्रसग्रह	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र	,, ,, ,,
न्यायदी. / न्या. दी.	न्यायदीपिका	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली

न्यायवि. टी.	न्यायबिन्दुटीका	का. जायसवाल सीरीज, पटना
न्यायभा	वात्स्यायनन्यायभाष्य	गुजराती प्रेस, वम्बई
न्यायवा.	न्यायवार्तिक	चौखम्वा सीरीज, काशी
न्यायकुसु.	न्यायकुसुमाञ्जलि	,, ,,
न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायवि. वि.	न्यायविनिश्चयविवरण	,, ,, ,,
न्या. वि.	न्यायबिन्दु	का. जायसवाल सीरीज, पटना
न्यायसू न्या. सू.	न्यायसूत्र	चौखम्वा सीरीज, काशी
न्यायमं. न्या. म.	न्यायमंजरी	,, ,, ,,
परीक्षामु. परी. मु.	परीक्षामुख	पं० घनश्यामदासजी,
पञ्चाध्या.	पञ्चाध्यायी	प० देवकीनन्दनजी
प्रकरणपं०	प्रकरणपञ्जिका	चौखम्वा सीरीज, काशी
प्रमाणपरी प्रमाणप.	प्रमाणपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
प्रमाणमी.	प्रमाणमीमासा	सिंघी जैन सीरीज, वम्बई
प्रमाल.	प्रमालक्षणटीका	कलकत्ता
प्रमाणवा. प्र. वा.	प्रमाणवार्तिक	विहार-उडीसा रिसर्च-सोसाइटी, पटना
प्रमाणस.	प्रमाणसमुच्चय	मैसूर यूनिवर्सिटी सीरीज, मैसूर
प्रमेयक.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	निर्णयसागर प्रेस, वम्वई
प्रमेयर.	प्रमेयरत्नमाला	पं० फूलचन्द्रजी, काशी

प्रशस्त. भा. प्रश. भा	प्रशस्तपादभाष्य	चौखम्बा सीरीज, काशी
पृ.	पृष्ठ	× × ×
माठरवृ.	माठरवृत्ति	चौखम्बा सीरीज, काशी
मी. श्लो.	मीमांसाश्लोकवार्तिक	,, ,, ,,
बृहदा.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
योगद.	योगदर्शन	चौखम्बा सीरीज, काशी
योगवा.	योगवार्तिक	,, ,, ,,
रत्नाकरावता	रत्नाकरावतारिका	यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर
युक्त्यनुशा टी	युक्त्यनुशासनटीका	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई,
लघी. लघीय.	लघीयस्त्रय	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
वात्स्या. भा.	वात्स्यायनन्यायभाष्य	गुजराती प्रेस, बम्बई
शाबरभाष्य बृह.	शाबरभाष्य बृहती टीका	मद्रास यूनिवर्सिटी सीरीज मद्रास
शास्त्रदी	शास्त्रदीपिका	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
श्लो.	श्लोक	× × ×
सन्मतित. टी	सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
सर्वार्थसि	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,
सां प्र. भा.	सांख्यप्रवचनभाष्य	चौखम्बा सीरीज, काशी,
सि. चन्द्रोदय	सिद्धान्तचन्द्रोदय	,, ,, ,,
स्या. मं	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई

स्याद्वादर स्याद्वादरत्ना.	स्याद्वादरत्नाकर	आर्हत्प्रभाकर कार्यालय, पूना
साख्यका.	साख्यकारिका	चौखम्बा सोरीज, काशी
साख्यतत्त्वको.	साख्यतत्त्वकौमुदी	,, ,, ,,
साख्यद.	साख्यदर्शन	,, ,, ,,
सर्वद. स.	सर्वदर्शनसग्रह	भाण्डारकर इस्टीटयूट, पूना
सिद्धिवि. सि. वि.	सिद्धिविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
स्वयम्भू	स्वयम्भूस्तोत्र	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली,

ग्रन्थमाला-सम्पादकोंका वक्तव्य

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाके इस नये पुष्पको पाठकोंके हाथ सौंपते हमें आज हर्ष और विषादकी मिश्रित भावनाका अनुभव हो रहा है। विषादका कारण यह है कि इस वीच ग्रन्थमालाकी आदि-प्रवन्धकारिणी समितिके सदस्योमें-से आज कोई भी हमारे साथ नही बचा। विक्रम संवत् १९७२ की बात है जब "स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्दजी जे० पी० के कृती नामको स्मरण रखनेके लिए निश्चय किया गया कि उनके नामसे एक ग्रन्थमाला निकाली जाये, जिसमें संस्कृत और प्राकृतके प्राचीन ग्रन्थोके प्रकाशित करनेका प्रबन्ध किया जाये, क्योकि यह कार्य सेठजीको बहुत प्रिय था।" उस समय ग्रन्थमालाकी जो प्रबन्धकारिणी समिति वनी, उसके ग्यारह सम्मान्य सदस्य थे सर सेठ हुकुमचन्दजी, सेठ कल्याणमलजी, सेठ कस्तूरचन्दजी, सेठ सुखानन्दजी, सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी, श्री लल्लूभाई प्रेमानन्द परीख, सेठ ठाकुरदास भगवानदास जोहरी, ब्र० शीतलप्रसादजी, प० धन्नालालजी काशलीवाल, प० खूबचन्दजी शास्त्री और प० नाथूरामजी प्रेमी (मन्त्री)। इस समिति-द्वारा अपील किये जानेपर लगभग सौ दाताओका दान प्राप्त हुआ और रु० ७६८७।≡) एकत्र हुए। इनमें सबसे वडा दान था रु० १००१) श्रीमान् सेठ हुकुमचन्दजीका। अन्य दो दाताओमें-से प्रत्येकने रु० ५०१) प्रदान किये, दोने रु० २५१), एकने २०१), छहने १०१), वारहने ५१), छहने २५), तीनने २१), पन्द्रहने १५), सोलहने ११) और शेपने इससे कम, जिसमें एक व्यक्तिके आठ आने ॥) का दान भी सम्मिलित है। इस द्रव्यमें-से रु० ५००) सेठ माणिकचन्दजीकी मूर्ति वनवानेमें लगाये गये और शेष ग्रन्थमाला चलानेमें। ग्रन्थमालाकी नियमावलीके अनुसार "जितने ग्रन्थ प्रकाशित होगे उनका मूल्य लागत मात्र रखा जायेगा। किसी एक ग्रन्थका पूरा या उसका तीन चतुर्थांश खर्चकी सहायता देनेवाले दाताके नामका स्मरण-पत्र और यदि

वे चाहेंगे तो उनका फोटू भी उस ग्रन्थकी सभी प्रतियोमे लगा दिया जायेगा। यदि सहायता देनेवाले महाशय चाहेंगे तो उनकी इच्छानुसार कुछ प्रतियाँ, जिनकी सख्या सहायताके मूल्यसे अधिक न होगी, मुफ्तमे वितरण करनेके लिए दे दी जायेंगी।"

इस योजना, साहाय्य व साधन-सामग्रीके आधारपर ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प 'लघीयस्त्रयादि सग्रह' कार्तिक वदि २ सवत् १९७२ को प्रकाशित हुआ जिसकी पृष्ठ सख्या २०४ और मूल्य ।=) (छह आना) रखा गया।

हम इन सब बातोका विवरण यहाँ इसलिए दे रहे हैं कि जिससे पाठकोको विदित हो जाये कि इस ग्रन्थमालाके कुशल सूत्रधार प० नाथूरामजी प्रेमीने कितने अल्प साधनो-द्वारा इस महान् कार्यको आरम्भ किया और ४६ ग्रन्थो व ग्रन्थ-संग्रहोका प्रकाशन कर डाला। जब हम उक्त परिस्थितियोका आजके वातावरण और गति-विधियोसे मिलान करते हैं तो आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देता है, और प० नाथूरामजी प्रेमी जैसे विद्वान् और चतुर सयोजकके प्रति धन्य-धन्यका उच्चारण किये विना नहीं रहा जाता। हमारा मस्तक श्रद्धासे झुक जाता है। आज न वे परिस्थितियाँ रही और न प्रेमीजी जैसे महापुरुष रहे। वे दिन चले गये "ते हि नो दिवसा गता"। इस स्मृतिसे हमारे हृदय-पटलपर एक विषादकी रेखा उदित हुई है।

और हर्ष इस बातका है कि उक्त कुशल कर्णधारके साथ ही ग्रन्थमालाका अस्त नही हो पाया, जैसा कि प्राय. हुआ है। प्रेमीजीको अपने जीवन-कालमें ही इस ग्रन्थमालाके भविष्यकी चिन्ता हो उठी थी, और उन्होने अपनी यह चिन्ता हम दोनोपर व्यक्त की। हमारे सौभाग्यसे हमे इधर अनेक वर्षोंसे प्रेमीजीका पितृतुल्य स्नेह प्राप्त था। साहित्यिक क्षेत्रमें हमे उनका मार्ग-निर्देश भी मिलता था और हम उनके विश्वास-भाजन भी बन सके थे। इसी कारण उनके साथ-साथ इस ग्रन्थमालाके कार्य-कलापसे भी हमारा निकटतम सम्बन्ध हो गया था। हमने प्रेमीजीको

भरोसा दिलाया कि हम यथाशक्ति ग्रन्थमालाको चिर जीवित रखनेका प्रयत्न करेगे । हमने यह चर्चा चलायी, तथा भारतीय ज्ञानपीठके सस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी और उनकी विदुषी धर्मपत्नी व ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमारानीजीने सहर्ष इस बालिकाको अपनी गोदमे लेना स्वीकार कर लिया । यद्यपि ग्रन्थमाला अपनी आयुके ४५–४६ वर्ष पूर्ण कर चुकी है, तथापि जबतक कोई स्वयं अपने पैरो खडे होकर चलनेके योग्य नही बनता तबतक वह बालक ही माना जाता है । इस ग्रन्थमालाका भी कोई ध्रुवफण्ड एकत्र नही हो सका और प्रकाशित ग्रन्थोका मूल्य तो नियमानुसार लागत मात्र ही रखा जाता था । इसीलिए इधर कुछ ग्रन्थोके प्रकाशनमे ग्रन्थमालापर कर्ज भी चढ गया था। मालाके नये पालकोने वह कर्ज भी चुका देना स्वीकार कर लिया और ग्रन्थमालाके उद्देश्योको सुरक्षित रखते हुए उसका सञ्चालन-कार्य भारतीय ज्ञानपीठके अन्तर्गत ले लिया । इस प्रकार ग्रन्थमालाको एक नया जीवन प्राप्त हो गया । इस उदार वात्सल्य और प्रभावनाके लिए साहू-परिवारका जितना अभिनन्दन किया जाये, थोडा है ।

ग्रन्थमालाके सञ्चालनकी सुरक्षा हो गयी । किन्तु उसे सफल बनानेके लिए दूसरी आवश्यकता यह है कि विद्वानो-द्वारा सुसम्पादित ग्रन्थ उसमें प्रकाशनार्थ मिलते रहे । यह कार्य प्रेमीजी अपने ढगसे चुपचाप बडे कौशल से करते रहते थे । उनके पश्चात् अब इस उत्तरदायित्वको सम्हालना समस्त विद्वद्वर्गका कर्तव्य हो जाता है । अभी भी शास्त्र-भण्डारोमें अगणित छोटी-बडी अप्रकाशित सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश रचनाएँ पडी हुई है । केवल उनके मूल-पाठको ही यथासम्भव शोधकर इस ग्रन्थमालामें प्रकाशनार्थ दिया जा सकता है । श्रुतभण्डारोके सस्थापकोने युग-युगान्तरोकी आवश्यकतानुसार श्रुत-परम्पराकी रक्षा की है । किन्तु वर्तमान युगकी माँग है कि समस्त प्राचीन साहित्यको शुद्ध सुचारु रूपसे मुद्रित कराकर प्रकाशित किया जाये, उनका आधुनिक भाषाओमें अनुवाद कराया जाये तथा उनपर यथासम्भव शोध-प्रबन्ध लिखे जायें । जबतक यह कार्य पूरा नही होता

तबतक हम न तो अपने ग्रन्थकार पूर्वाचार्योंके ऋणसे मुक्त हो सकते और न जैन-साहित्यको विद्वत्संसारमे वह उच्च आदरणीय स्थान प्राप्त करा सकते जिसका वह अपने गुणानुसार अधिकारी है। इस कार्यके लिए जैन-भण्डारोकी पुनर्व्यवस्था व कार्य प्रणालीमे सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। इस सबके लिए भी विद्वानो और श्रीमानोका सहयोग वांछित है और उक्त कार्यकी पूर्ति हेतु इस ग्रन्थमालाका द्वार खुला हुआ है।

सयोगकी बात है कि इस ग्रन्थमालाका प्रारम्भ एक न्याय-विषयक ग्रन्थ 'लघीयस्त्रयादिसग्रह'से हुआ था और उसके नये जीवनका आरम्भ भी पुनः एक न्याय-विषयक रचनासे हो रहा है। जैन दार्शनिक श्रीनरेन्द्र-सेनने 'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' नामक अपनी इस छोटी-सी रचनामें न्यायके प्रधान विषय प्रमाण और प्रमेयके सम्बन्धमें अन्य दार्शनिकोंके मतको पूर्व पक्षमे लेकर जैन दार्शनिक दृष्टिकोणका सुचारु रूपसे प्रतिपादन किया है। ग्रन्थका प्राक्कथन हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीके दर्शन-विभागके अध्यक्ष पण्डित हीरावल्लभ शास्त्री द्वारा लिखा गया है जिससे विषयका अपेक्षित परिचय और प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनकी अभिरुचि उत्पन्न हो। उसी विश्व-विद्यालयके जैनदर्शन-प्राध्यापक पण्डित दरबारीलालजी कोठियाने ग्रन्थका विधिवत् सुसम्पादन किया है और अपनी आधारभूत प्राचीन प्रतियों तथा इस सस्करणकी विशेषताओका परिचय आपने सम्पादकीयमें करा दिया है। प्रस्तावनामें आपने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया है। इसके लिए हम उक्त दोनो साहित्यिकोंके कृतज्ञ हैं।

इसके पश्चात् निकलनेवाला ग्रन्थ जैनशिलालेखसंग्रह भाग ४ भी तैयार हो रहा है। हमे आशा है कि विद्वानोंके सहयोगसे ग्रन्थमाला अविच्छिन्न रूपसे चलती हुई शीघ्र ही शतपुष्पमयी होनेका गौरव प्राप्त कर सकेगी।

हीरालाल जैन,
आ० ने० उपाध्ये
ग्रन्थमाला-सम्पादक

प्राक्कथन

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
यदहिंसात्मकं कर्म तत्कुर्यादात्मवान्नर. ॥
——महाभा० अनुशा० प०, ११६ अ०, १२ श्लो० ।

दर्शनकी परिभाषा :

'दृश्यते यथार्थतया ज्ञायते पदार्थोऽनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्तिको लेकर 'दर्शन' शब्दका प्रयोग नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म, दर्पण और शास्त्र इन छह अर्थोमे किया गया है ।[1] आँखोसे पदार्थ देखा जाता है, अत आँखे दर्शन है । इसी तरह स्वप्न आदिसे भी पदार्थ जाना जाता है, इस कारण कोपकारोने उन्हे भी 'दर्शन' शब्दका वाच्य कहा है । किन्तु जब इस सामान्यार्थप्रतिपादक 'दर्शन' शब्दका सम्बन्ध किसी मोक्षादि-तत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रके साथ होता है तो प्रकरणवश यह 'दर्शन' शब्द उस अर्थविशेष—शास्त्रका प्रतिपादक होता है ।[2] जैसे न्यायदर्शन, वेदान्तदर्शन, जैनदर्शन आदि । वहाँ 'दर्शन' शब्द अपने नेत्रादि अन्य अर्थोका वाचक न होकर गौतमादि महर्षि प्रतिपादित न्यायादिशास्त्ररूप अर्थविशेषका वाचक होता है । जड-चेतनात्मक इस ससारमें सार क्या है ? इस दृश्यमान स्थूल जगत्की सृष्टि कैसे हुई ? इसमें अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व क्या है ? हेय और उपादेय क्या है ? जीव और जड वस्तु क्या है ? नित्यानित्य तत्त्व क्या हैं ? प्रमाण

---

१. 'नेत्रे स्वप्ने बुद्धौ धर्मे दर्पणे शास्त्रे च दर्शनशब्दः ।'
—मेदिनीकोष

२. दर्शनशास्त्रसे होनेवाला तत्त्वज्ञान भी 'दर्शन' शब्दसे ग्राह्य हो सकता है ।

और प्रमेय क्या है ? जीवको दु:खोपरमरूप परमशान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है और उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रश्नोपर पूर्णतया प्रकाश डालनेवाला शास्त्र ही दर्शनशास्त्र कहा जाता है। यद्यपि 'दृश्यते यत् तद् दर्शनम्' इस व्युत्पत्तिसे सिद्ध 'दर्शन' शब्दका अर्थ दिखायी देनेवाला ज्ञेय पदार्थ भी है, तथापि करण व्युत्पत्तिसे सिद्ध 'दर्शन' ही यहाँ अभिप्रेत है।

दर्शनोंका विभाजन : आस्तिक और नास्तिक विचार :

इस दर्शनशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य तत्त्वोका मनन एवं चिन्तन करनेवाले मनीषी दार्शनिक कहे जाते है। यो तो समग्र विश्वमें, किन्तु विशेषतया भारतवर्षमें इन तत्त्वचिन्तक दार्शनिकोकी परम्परा सदा रही है। यह दार्शनिक परम्परा अनेक भेदोमें विभक्त मिलती है। कुछ साम्प्रदायिक इस दार्शनिक-परम्पराको आस्तिक और नास्तिकके भेदसे दो भागो में विभाजित करते है और आस्तिकोंके दर्शनोको आस्तिक दर्शन तथा नास्तिकोके दर्शनोको नास्तिक दर्शन बतलाते हैं। किन्तु उनका यह विभाजन सोपपत्तिक एव सगत नही ठहरता। यदि 'अस्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स आस्तिक', नास्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स नास्तिक.' इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक शब्दोंका अर्थ किया जाये तो यह नही कहा जा सकता कि जैनदर्शन नास्तिक दर्शन है, क्योकि इस दर्शनमें न्यायादिदर्शनोकी तरह 'आत्मा परलोकगामी है, नित्य है, पुण्य-पापादिका कर्त्ता-भोक्ता है' इत्यादि सिद्धान्त स्वीकृत ही नही, अपि तु जैन मान्यतानुसार जैन लेखको-द्वारा उसका पुष्कल प्रमाणोसे समर्थन भी किया गया है तथा जैन तीर्थकरो-द्वारा दिया गया उसका उपदेश भी अविच्छिन्न-रूपेण अनादि कालसे चला आ रहा है। यदि यह कहा जाये कि 'आस्तिक दर्शन वे हैं जो वेदको प्रमाण मानते हैं और नास्तिक दर्शन वे हैं जो उसे प्रमाण स्वीकार नही करते—'नास्तिको वेदनिन्दक.।' तो यह परिभाषा भी आस्तिक-नास्तिक दर्शनोके निर्णयमें न सहायक है और न अव्यभि-

चरित है, क्योकि न्यायादि जिन दर्शनोको वेदानुयायी होनेसे आस्तिक दर्शन कहा जाता है, आचार्य शङ्करकी दृष्टिमें वे वैदिक दर्शनकी कोटिमे प्रविष्ट नही है। आचार्य शङ्कर अपने वेदान्त दर्शन (२–२–३७) मे स्पष्ट कहते है कि[1] 'वेदबाह्य ईश्वरकी कल्पना अनेक प्रकारकी है। उनमें सेश्वर-वादी सांख्य जगत्का उपादान-कारण प्रकृतिको मानते है और निमित्त कारण ईश्वरको। कुछ वैशेपिकादि भी अपनी प्रक्रियाके अनुसार ईश्वर को निमित्तकारण कहते हैं।' इससे प्रकट है कि आचार्य शङ्कर एक ही ईश्वरको उपादान और निमित्त दोनो माननेवाले दर्शनको ही वैदिकदर्शन कह रहे है और उससे अन्यथावादी दर्शनको अवैदिक दर्शन वतला रहे हैं। यहाँ भाष्यकी रत्नप्रभा आदि टीकाओके रचयिताओने स्पष्ट ही नैयायिको तथा जैनोको 'सम्प्रदानादि भावोका ज्ञाता कर्मफल देता है' ऐसा समानसिद्धान्तवादी कहा है।[2] इतना ही नही, किन्तु वहाँ एक दूसरी वात और कही है। वह यह कि किन्ही भी शिष्टो-द्वारा अंशत स्वीकृत न होनेके कारण न्याय-वैशेपिकोका परमाणुकारणवाद-सिद्धान्त वेदवादियोंमे अत्यन्त उपेक्षणीय है।[3] यही आशय स्थलान्तरमे भी शाङ्कर-

---

१. 'सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। केचित्सांख्ययोगव्यपाश्रया. कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणा. प्रधानपुरुपेश्वरा इति।''''तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।'

२ (क) 'कर्मफलं सपरिकराभिज्ञदातृक कर्मफलत्वात्, सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च।'—भाष्यरत्नप्रभा टी० २-२-३७, पृ० ४८८।

(ख) कर्मफलं सम्प्रदानाद्यभिज्ञप्रदातृक कर्मफलत्वात्, सेवाफलवदिति नैयायिक-दिगम्बरौ।'—न्यायनिर्णय टी० २-२-३७, पृ० ४८८।

३. 'अय तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टै केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभि.।'

—वेदान्तसू० २-२-१७, पृ० ४४२।

भाष्यमे प्रकट किया गया है। वहाँ कहा गया है कि वैशेपिक सिद्धान्त कुयुक्तियोसे युक्त है, वेदविरुद्ध है और शिष्टो-द्वारा अस्वीकृत है। अत. वह आदरणीय नही है।[1] इस विवेचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आस्तिक और नास्तिककी उक्त परिभाषा स्वीकार करने पर न्याय और वैशेषिक दर्शन भी, जिन्हे आस्तिकदर्शन माना जाता है, आचार्य शङ्करके अभि-प्रायानुसार नास्तिक दर्शन माने जायेंगे।

अगर यह कहा जाय कि जो ईश्वर तत्त्वको मानता है वह आस्तिक दर्शन है और जो उसे नही मानता वह नास्तिक दर्शन है तो यह परिभाषा भी ठीक नही है, क्योकि आस्तिक दर्शनत्वेन अभिमत कापिल-साख्य और मीमासा दर्शन भी नास्तिक दर्शन कहे जायेंगे, क्योकि इनमें वेदको प्रमाण माननेपर भी ईश्वर तत्त्व स्वीकृत नही है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार आचार्य शङ्करने वैशेषिकादि दर्शनोको प्रकारान्तरेण अवैदिक कहा है उसी तरह साख्य विद्वान् विज्ञानभिक्षुने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध, वेदान्तिब्रुव आदि हीन-शब्दोंसे स्मरण किया है।[2] इसके विपरीत वेदान्तादि दर्शनोमे जहाँ जैनादि दर्शनोंके सिद्धान्तका खण्डन किया है वहाँ 'इति नास्तिकदार्शनिकाः' इत्यादिरूपसे कही भी उल्लेख देखनेमे नही आता। यहाँ तक कि 'तदपरे' 'इत्येके' जैसे परमत सूचक शब्दो तकका भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। केवल अन्य दार्शनिकोका सिद्धान्त दिखाकर खण्डन किया है। जैसा कि इसी शाङ्कर-भाष्यमें जैनदर्शनके खण्डनके प्रारम्भमे 'विवसनसमय इदानीं निरस्यते' ऐसा कहकर ही उसका निरास किया गया है। यहाँ 'यह नास्तिक दर्शनका सिद्धान्त है' ऐसा कुछ भी नही कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शनोको आस्तिक और नास्तिक इन दो विभागोमें विभक्त करनेवाला कोई भी सर्वमान्य एव अबाधित मापदण्ड नहीं है।

---

१. 'वैशेपिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च ना-पेक्षितव्य इत्युक्तम्।'—वेदान्तसू० शा० भा० २-२-१८, पृ० ४४९।

२. देखिए, सांख्यप्रवचनभाष्य··· ··।

यह निश्चित है कि जैन दर्शन अनेक भागोमे विभक्त भारतीय दर्शन-दिनमणिकी ही एक अनुपम देदीप्यमान विज्ञान-ज्योति है। इस दर्शनकी निजी अनादि परम्परा है और इसमें तत्त्वोका विचार बडी गम्भीरता तथा सूक्ष्मताको लिये हुए अनुभव और मननके साथ किया गया है। इसके तात्त्विक सिद्धान्त आधुनिक या मध्यकालिक नही है, प्रत्युत युक्ति, प्रमाण और अनुभवारूढ होकर अनादि परम्परासे अवतरित है तथा अज्ञानान्धकारको दूरकर जगत्‌को ज्ञानका दिव्य सन्देश देते हुए चले आ रहे है। यदि इस दर्शनके सिद्धान्त जगत्‌मे सतत प्रवाहित न होते तो वेदान्त दर्शनके 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (वे० द० २-२-३३) इत्यादि सूत्रोमे जैन दर्शनके प्राणभूत अनेकान्तवाद, सप्तभङ्गीवाद आदि सिद्धान्तोकी चर्चा न होती।[1] यही कारण है कि ऋषभदेव-जैसे तत्त्वोपदेष्टाओका उल्लेख भागवत आदि वैदिक पुराणोमें पाया जाता है। प्रकरणवशात् इसके दार्शनिक सिद्धान्तोकी भी चर्चा वैदिक पद्मपुराणादि ग्रन्थोमे देखनेमे आती है। इतना ही नही, किन्तु जैन धर्मके सारभूत 'अहिंसा' धर्मका सकीर्तन महाभारतमे यत्र-तत्र देखनेमे आता है। पूर्वोल्लिखित श्लोकमे जैन-धर्मकी अहिंसाकी ही छाप स्पष्ट है। महाभारतमे एक स्थलपर पितामह भीष्म धर्मराज युधिष्ठिरको उपदेश देते हुए अहिंसाकी मुक्तकण्ठसे प्रशसा करते हैं और उसे परम धर्म, परम तप तथा परम सत्य बतलाते हैं[2]। महर्षि पतञ्जलिने भी योगसूत्रमें[3] योगके साधनीभूत यम-नियमादिमें सर्वप्रथम

---

१ देखिए, 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (२-२-३३) इस सूत्रका भाष्य पृ० ४८०।

२. अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥

—महाभा० अनुशा० प०, ११५ अ०, २३ श्लोक

३. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा।'

—योगसू० २-३०

इस अहिंसा धर्मका ही निर्देश किया है। इस अहिंसाव्रतको अपनाये विना अन्य सत्य, अस्तेयादि अङ्गोकी सिद्धि नही हो सकती, इस बातको भी उक्त सूत्रके व्यास-भाष्यमें स्पष्ट कर दिया है[1]। अहिंसा-विजयीके विषयमे महर्षि पतञ्जलि कहते है कि अहिंसामे प्रतिष्ठित योगीके निकट सभी विरोधी प्राणियोका परस्पर वैरत्याग हो जाता है[2]। स्थूल विचारसे जिस किसी एक जीवके वधको एक हिंसा कहा जाता है। किन्तु शास्त्रमे एक ही जीवकी हिंसाके सूक्ष्मदृष्टिसे ८१ भेद बतलाये गये है[3]। जैन-धर्ममे इससे भी ज्यादा सूक्ष्मतासे हिंसाका विचार किया गया है और उसके १०८ और असख्य भेद गिनाये गये है[4]। यथार्थमे हिंसाका अर्थ केवल हनन

---

१. 'अपरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।' —व्यासभाष्य योगसू० २-३

२. 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'

—योगसू० २-३५

३. 'वितर्का हिसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु.खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।'
—योगसू० २-३४

'तत्र हिंसा तावत्—कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा। लोभेन मांसचर्मार्थेन क्रोधेनापकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहा. पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसाया.। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीति-भेदा हिंसा भवति।' —व्यासभाष्य २-३४

४. देखिए, तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि ६-८। आलोचना-पाठगत निम्न पद्य :

करना ही नही है, अपितु मन, वचन और शरीरसे परपीडन ही हिंसा है, ऐसा शास्त्रकारोका स्पष्ट अभिप्राय जाना जाता है। यही कारण है कि जैन-धर्मके तत्त्वोपदेष्टाओने हिंसाको श्रेयका अवरोधक और अनिष्टका कारण समझकर उसका विरोध करते हुए सब धर्मोंके सारभूत 'अहिंसा परमो धर्म.' का सदुपदेश दिया। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्तियोके 'सर्व खल्विद ब्रह्म' इस अल्पपरिमाणवाले वेदान्तमहावाक्यार्थमें समस्त वेदान्त का तात्पर्य निहित है उसी प्रकार जैन तीर्थङ्करोसे अत्यादृत 'अहिंसा परमो धर्मः' इस लघुकाय वाक्यार्थमे यावद्धर्मोंका समावेश हो जाता है। इस अध्यात्म अहिंसा धर्मको न समझनेके कारण आज भौतिक विज्ञानकी चरम सीमा तक पहुँचे हुए तथा चन्द्रलोकान्त उडानके अव्यर्थ आशावादी कतिपय पश्चिमी राष्ट्रोमे अशान्तिकी अग्नि धधक रही है। केवल एक अहिंसावादी भारत ऐसा राष्ट्र ही पञ्चशीलके सिद्धान्तानुसार परस्पर शान्तिसे रहनेकी घोषणा कर रहा है। दासताकी कठोर वेडीसे निगडित भारतराष्ट्रके स्वातन्त्र्यके लिए महात्मा गांधीने भी इस अमोघ अहिंसा-अस्त्रको उठानेका उपदेश दिया था, जिसका सुखद परिणाम सबके सम्मुख है। इस अहिंसा धर्मके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर यहाँ इसपर अधिक कहना एक प्रकरणान्तर हो जायगा। यहाँ इसपर चर्चा करनेका इतना ही अभिप्राय है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवसे लेकर चौवीसवें तीर्थंकर महावीरपर्यन्त जैन तत्त्वद्रष्टाओने किस प्रकार अनुभव और मननपूर्वक अहिंसा, अनेकान्त-जैसे उदात्त सिद्धान्तोका अवलोकन

संरम्भ समारम्भ आरम्भ, मन वचन तन कीने प्रारम्भ।
कृत कारित मोदन करिकै, क्रोधादि चतुष्टय धरिकै॥
शत आठ जु इन भेदन तैं, अघ कीने परछेदन तैं।

संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ^{3} × मन-वचन-काय^{3} × कृत-कारित-अनुमोदना^{3} × क्रोध-मान-माया-लोभ^{4} = ३ × ३ × ३ × ४ = १०८ हिंसाभेद।

कर जगत्को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके त्रिरत्न-मार्गसे[1] लोकाकाश पर्यन्त नि.श्रेयस (मोक्ष) मे पहुँचानेका प्रशस्त प्रयत्न किया। उक्त मार्गकी अनेक सोपानोमें एक सुन्दर सोपान यह 'अहिसा परमो धर्मः' का उपदेश भी है।

यद्यपि भारतीय दर्शनोकी परम्परा अनादि कालसे प्रवाहित है तथापि ज्ञान-तत्त्वके उपदेशक जिन महामनीपियोने अनादि परम्परा प्रचलित जिस मार्ग व तत्त्वोको तर्ककी कसौटीपर परखकर अनुभवसे उनके असन्दिग्ध स्वरूपका निर्णय किया तथा दु.खदवाग्निसे सन्तप्त पामर-प्राणियोको मोक्षात्मक-शान्तिपद प्राप्त करके लिए जो आगमोपदेश दिया वह उन रत्नत्रयादि आचारनिष्ठ लौकिक व्यवहारातीत एव जीवन्मुक्तकी स्थितिको प्राप्त हुए तीर्थङ्करोके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जैसे महर्षि कपिलप्रोक्त कापिल या साख्यदर्शन, कणादकथित काणाददर्शन, पतञ्जलिप्रोक्त पातञ्जलदर्शन, अक्षपाद गौतम प्रतिपादित गौतमदर्शन कहे गये और इन नामोसे वे प्रसिद्ध हुए। इसी तरह अर्हन् या जिनके[2] द्वारा प्ररूपित

---

१. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' —तत्त्वार्थसू० १-१।

२. जैन परिभाषाके अनुसार अर्हन् या जिन कोई नित्य-सिद्ध, अनादि मुक्त एक परमात्मा नहीं है। किन्तु मोक्षमार्गका उपदेशक, सर्वज्ञ और कर्मभूभृतोका भेत्ता सादिमुक्त आत्मा ही परमात्मा है। ऐसे आत्मा ही मुक्ति और मुक्तिमार्गका उपदेश देते हैं। ये जीवन्मुक्त-जैसी दशामें स्थित होते हैं। रागादि दोषोंके क्षीण हो जानेके कारण *'वीतराग'*, भूत, भविष्यद् और वर्तमान तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंको साक्षात्कार करनेसे *'सर्वज्ञ'*, सबके पूजनीय होनेसे *'अर्हन्'*, मननशील होनेसे *'मुनि'*, कामविजयी होनेसे *'जिन'* और आगमका उपदेश करनेसे *'तीर्थङ्कर'* आदि शब्दोंसे अत्यादृत होते हैं। ऐसे अर्हन् मुनियोंके साक्षात्कार और तत्त्वज्ञानमें भेद नहीं होता। इस श्रेणीमें प्रविष्ट सभी

दर्शन जैन दर्शन है। इन तत्त्वदर्शी अर्हन्तोंमें कणादादि जैसे तत्त्वदर्शियोंकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि सभी अर्हन्तोके तत्त्वज्ञान और तत्त्वोपदेशमें कोई मतभेद नही होता। जब कि इतर दार्शनिको और दर्शनप्रवर्तकोमे वह देखा जाता है। उदाहरणके लिए जीवको कोई अणु मानते है तो कोई विभु स्वीकार करते है। कोई (वेदान्तादि) आत्माको ज्ञानस्वरूप प्रतिपादन करते है तो कोई नैयायिकादि उसे समवायसे ज्ञानगुणवाला बतलाते है। पर, जैन तत्त्वोपदेष्टाओके सिद्धान्तोमे कोई अन्तर नही पाया जाता। हाँ, आचारकी अपेक्षा उनके अवान्तर श्वेताम्बरादि सम्प्रदायोमें वह कुछ देखा जाता है। किन्तु वह दार्शनिक भेद नही है। केवल आगमानुसार आचार-प्रणालीका भेद है। दार्शनिक दृष्टिसे जीव, कर्मपुद्गल, बन्ध, मोक्ष, सृष्टि, पदार्थसख्या, प्रमाणसख्या, सादिमुक्त ईश्वरवाद, अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभङ्गीवाद आदि सिद्धान्तोंके बारेमे कोई तात्त्विक भेद उनमे नही है। इसी तरह सूक्ष्म पदार्थोके विषयमें भी सभी अर्हन्तोकी एक ही तात्त्विक प्ररूपणा है। इस विवेचनसे प्रकट है कि जैनदर्शन नास्तिक दर्शन नही है।

दर्शनोके आस्तिक और नास्तिक भेदके विषयमें यहाँ तक जो विचार व्यक्त किया है उससे स्पष्ट है कि आस्तिक और नास्तिकके भेदका कोई ऐसा आधार उपलब्ध नही है जो युक्ति तथा प्रमाणसे सिद्ध हो और सर्व-

---

अर्हन् या जिन एक ही स्थितिके होते हैं। इस कारण किसी भी सर्वज्ञ-अर्हन्-द्वारा कहा गया आगम जैन आगम या जैन दर्शन या आर्हत दर्शन कहा जाता है। यह स्मरणीय है कि जो अर्हन्त तीर्थङ्कर कर्मके कारण संसारके लिए कल्याणका उपदेश देते हैं वे तीर्थङ्कर कहे जाते हैं। सभी अर्हन् तीर्थङ्कर हों, ऐसी बात नहीं है और इसलिए ऐसे तत्त्वोपदेष्टा तीर्थङ्कर प्रत्येक काल (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी) में २४ ही होते हैं।

मान्य हो। वह केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे कल्पित हुआ है। प्राचीन दर्शन-ग्रन्थोमे वह दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रौत और श्रौतेतर दर्शन :

भारतीय दर्शनोके विभागपर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय दर्शनोकी दो श्रेणियाँ हैं : एक श्रौत दर्शन और दूसरी श्रौतेतर दर्शन। जिसमे श्रुतिको प्रधान एवं प्रमाण मानकर तत्त्व प्रतिपादित हैं वह श्रौतदर्शन श्रेणी है। दूसरी श्रौतेतरदर्शन श्रेणी वह है जिसमें विशिष्ट व्यक्तिके अनुभव तथा तर्कको प्रधान एव प्रमाण मानकर तत्त्वोका विवेचन है। प्रथम श्रेणीमे श्रुतिके आधारसे प्रतिष्ठित सांख्य, न्याय, वैशेपिक, मीमासा और वेदान्त दर्शन सम्मिलित है और द्वितीय श्रेणीमें जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शत गर्भित हैं। इन दोनो श्रेणियोको क्रमशः वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शनके नामसे भी उल्लेखित किया जा सकता है। इस विभाजनमे उपर्युक्त कोई आपत्ति नही है और न किसी दर्शनके प्रति संकुचितता या असम्मान ही प्रकट होता है।

भारतीय दर्शनोंमें परस्पर भूयःसाम्य :

भारतीय दर्शन अनेक भेदोमे विभक्त भले ही हो, किन्तु चार्वाक और शून्यवादी दर्शनोको छोड़कर अन्य सभी दर्शनोका आत्मवादमें विवाद नही है। निरात्मवादी बौद्धोमें भी योगाचारादि सम्प्रदायमें क्षणिक-विज्ञान-सन्तानको आत्मरूपसे स्वीकार किया है और उसके आलय-विज्ञान तथा प्रवृत्ति-विज्ञान ये दो भेद भी माने गये हैं। एवं अविद्या-वासनाके विनाश होनेपर दीप-निर्वाणकी तरह आत्म-निर्वाण—निरास्रव-चित्तसन्ततिका उत्पादरूप मोक्ष भी माना है। भारतीय दर्शन जिस मूल-भित्तिपर खड़ा है वह यही आत्मवाद है। यह आत्मवाद भारतीय दर्शनका प्राणभूत है। आत्माके पुण्यापुण्यकर्म, उसका आवागमन, वन्ध, कर्मवशात् नानायोनि, मोक्ष, तत्साधन तत्त्वज्ञानादि सिद्धान्तोमें भी भारतीय दर्शनोका परस्पर

ऐक्य है। इन सभी दर्शनोका एक मात्र उद्देश्य कर्मबन्धनके भोगमे पड़े हुए जीवको उस बन्धनसे मुक्त कराना और मोक्ष दिलाना है। इस उद्देश्यमे कोई अन्तर नही है, चाहे वह श्रौत दर्शन हो, चाहे अर्हतादि-मुनि, परम्परा प्राप्त दर्शन हो। यह दूसरी वात है कि भारतीय दार्शनिकोका जीवके स्वरूप, धार्मिकाचरण, मोक्षस्वरूप, तत्त्वसंख्या, प्रमाणसख्या आदिके विषयमे परस्पर नितान्त मतभेद है। और इस मतभेदका कारण है आत्मा, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, वन्ध-मोक्षादि आत्मसम्बन्धी मान्यताओकी अत्यन्त सूक्ष्मता और दुरूहता। ये सब हस्तामलकवत् प्रदर्शित नही किये जा सकते और न वे स्वबुद्धिजन्य तर्कसे भी जाने जा सकते है। ऐसे दुरूह एवं अचिन्त्य भावो (वस्तुओ) के बारेमें महाभारतमे कहा है कि जो अचिन्त्य तत्त्व है उनकी सिद्धि अल्पज्ञ अपने तर्कोंसे करनेका प्रयत्न न करे[1]।

भारतीय दर्शनोंका प्रयोजन : तत्त्वज्ञानप्राप्ति :

फिर भी दर्शनशास्त्र तत्त्वोका ज्ञान करानेमे साधन है। विभिन्न युक्तियाँ, विभिन्न तर्क और अनुमानादि प्रमाण उसमे प्रदर्शित किये जाते है और इन सबके आधारसे उनका हमें यथायोग्य ज्ञान होता ही है। उक्त सूक्ष्म तत्त्वोका भी ज्ञान तत्त्वदर्शी, अनुभवी और परानुग्रही जीवन्मुक्त तत्त्व-द्रष्टाओके कल्याणकारी सदुपदेश तथा शास्त्रसे हो सकता है। शास्त्रो और तत्त्वज्ञोके अनुभवोमें भेद देखनेमें आनेसे कौन-सा शास्त्र, कौन-सा सम्प्रदाय, किस धर्म और किस तत्त्वज्ञानीको प्रमाण माना जाये, इसका निर्णय मनुष्य अपने प्राक्तनकर्मानुसार प्राप्त अदृष्ट, सस्कार, जन्म, वश, विद्या, बुद्धि आदि उपकरणोसे ही कर सकता है। ये उपकरण ही उसे किसी-न-किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोको माननेके लिए वाध्य किये रहते है। अभिप्राय यह

---

१. 'अचिन्त्या' खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।'

—महाभा. भी. ५-१२।

है कि प्रारम्भिक दशामे जब मनुष्य अशिक्षित रहता है तो उसके सामने किसी भी सम्प्रदायके उचितानुचितका निर्णय करनेका कोई भी साधन नही रहता। परिशेषात् और अत्यन्त निकट होनेसे उसे वही सम्प्रदाय या धर्म स्वीकार कर लेना पडता है, जिसमे उसका जन्मसे ही सम्बन्ध रहता है। व्यवहारानुसार उसके सस्कार भी उस सम्प्रदाय या धर्मके अनुकूल दृढ होते जाते हैं। इस तरह मनुष्य अपने-अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तोके अनुसार प्रवृत्ति करता है और उन्हे माननेमें बद्धपरिकर होता है। सम्प्रदायोका और उनके सिद्धान्तोका भेद तत्तत् सम्प्रदायके आगमोके उप-देष्टा आचार्योके अनुभवपर आश्रित होता है। इन्द्रियातीत चेतनात्मक सूक्ष्मतत्त्वोमें अदृष्टवश दृष्टिभेद होना नैसर्गिक है। इस प्रकार अपनी प्राप्त दृष्टिके अनुसार सभी दर्शन-प्रवर्त्तक अपने दर्शनोंमे तत्त्वोका उपदेश देते है। यह तत्त्वभेद ही दर्शन-भेदका कारण होता है। इन तत्त्वदर्शियोके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोका अनुसन्धान, जो दर्शन या ज्ञान कहा जाता है, और उसके विषयभूत पदार्थोकी सिद्धि भी प्रमाणाधीन हैं। इससे हम यह सहज में जान सकते हैं कि भारतीय दर्शन तत्त्वज्ञानके स्रोत हैं और तत्त्वज्ञान नि.श्रेयसका कारण है।

तत्त्वज्ञानका आधार : प्रमाण :

स्वीकृत सिद्धान्तोकी रक्षा और तत्त्व-व्यवस्थाके लिए प्रमाणका मानना आवश्यक तथा अनिवार्य है। सभी दर्शनकारोने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु उसके स्वरूप, सख्या, विषय और फलके सम्बन्धमें उनमें ऐक्य नही है। इतना होते हुए भी सभीने उसे तत्त्वज्ञानका असन्दिग्ध उपाय बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि तत्त्वकी व्यवस्था प्रमाणसे होती है तो प्रमाणकी व्यवस्था कैसे होगी? यदि प्रमाणकी व्यवस्थाके लिए अन्य प्रमाण माना जाये तो उस अन्य प्रमाणकी प्रतिष्ठाके लिए अन्य तृतीय प्रमाण स्वीकार किया जायेगा और इस तरह कहीं भी विश्रान्ति न होनेके कारण अनवस्था दोष आता है। अगर कहा जाये कि प्रमाणान्तरके

विना ही प्रमाणकी व्यवस्था हो जाती है तो तत्त्वकी व्यवस्था भी स्वत. हो जाये, उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणका मानना भी निरर्थक है ? इस प्रश्नका समाधान जैन दार्शनिकोकी दृष्टिमे इस प्रकार है कि प्रमाणको प्रदीपकी तरह स्व-पर व्यवस्थापक माना गया है। जिस प्रकार प्रदीप अन्य पदार्थोंका प्रकाशन करता हुआ अपना भी प्रकाशन करता है—उसके प्रकाशनके लिए प्रदीपान्तरकी आवश्यकता नही होती उसी तरह प्रमाण भी प्रमेयकी व्यवस्था करता हुआ अपना भी व्यवस्थापक है—उसकी व्यवस्था के लिए प्रमाणान्तरकी ज़रूरत नही होती। हाँ, प्रमाणके प्रामाण्यकी उत्पत्ति तथा ज्ञप्तिको लेकर दार्शनिकोमें वहुत मतभेद है। कोई उसे स्वत , कोई परत और कोई स्वत परत स्वीकार करते है। किन्तु प्रामाण्यके अर्थाव्यभिचारित्वस्वरूपके विषयमे प्राय सब एकमत है। प्रमाणने जिस अर्थको जाना है वह अर्थ यदि है तो वह प्रमाण है और यदि उसका जाना हुआ वह अर्थ उपलव्ध नही है तो वह अप्रमाण है। अत प्रमाणके प्रामाण्यकी कसौटी उसका अर्थाव्यभिचारित्व है। इससे विदित है कि तत्त्वज्ञानका आधार एक मात्र प्रमाण है।

प्रमाण-चर्चा :

इस प्रमाणकी चर्चा प्रत्येक दर्शनने की है। उसका स्वरूप क्या है ? उसके कितने भेद है ? उसका फल क्या है और विपय क्या है ? इन प्रश्नो पर सभीने विचार किया है और अपने अनुभव, तर्क तथा वुद्धिसे उनका निर्द्धारण किया है। इस विपयमें भारतीय दार्शनिकोका परस्पर भारी मत-भेद है। हम पहले कह आये हैं कि भारतीय दर्शन श्रुति और आचार्योंके अनुभव, तर्क एव युक्ति इन आधारोका अवलम्बन कर श्रौत दर्शन और तीर्थङ्करानुभवाश्रित दर्शन इन दो भागोमें विभक्त है। इन दर्शनोमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलव्धि, सम्भव और ऐतिह्य पर्यन्त प्रमाणोकी सख्या मानी गयी है। इससे अधिक इङ्गितादि भी प्रमाणत्वेन

कुछ सम्प्रदायोमे मान्य है । प्रत्यक्षसे लेकर अनुपलब्धिपर्यन्त छह प्रमाण भट्टानुयायी मीमासकोको मान्य है, 'व्यवहारे भाट्टनय' इस नीतिके अनुसार अद्वैतवेदान्तियोको भी ये ही छह प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रभाकरानुयायी मीमासक अनुपलब्धिको छोड़कर अर्थापत्तिपर्यन्त पाँच ही प्रमाण मानते हैं। उपमानतक चार प्रमाण नैयायिकोको मान्य है। शब्दपर्यन्त तीन प्रमाण साख्य-योग दर्शनमे स्वीकृत है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण वैशेपिक तथा बौद्ध दोनो दर्शनोमें माने गये है। केवल एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण अत्यन्त स्थूल पदार्थवादी चार्वाक दर्शन स्वीकार करता है। प्रमाणो की संख्याकी तरह उनके स्वरूपमें भी दार्शनिकोमें मतभेद है। इन सबका विशेप अध्ययन इन दर्शनोके दर्शन-ग्रन्थोसे किया जा सकता है।

जैन दर्शनमें प्रमाण-व्यवस्था :

तत्त्व-जिज्ञासुओको जिज्ञासा हो सकती है कि जैनदर्शनमे प्रमाणका स्वरूप क्या है ? उसके कितने भेद माने गये हैं ? उसका फल और विषय क्या है ? जैनदर्शनमे इन प्रश्नोपर विस्तारके साथ ऊहापोह किया गया है। जैनाचार्योंकी मान्यता है कि इन्द्रिय या इन्द्रियार्थसन्निकर्प प्रमाण नही हो सकता। किन्तु अन्वय-व्यतिरेकसे स्वार्थपरिच्छेदी ज्ञानको ही प्रमाण माना जा सकता है। इन्द्रिय, और सन्निकर्पादि-सामग्रो-समवधान-दशामे भी ज्ञानके अभावमें वस्तुकी परिच्छित्ति नही होती। इस कारण अपना और अन्यका सम्यक् निश्चय करानेवाले ज्ञानको ही प्रमाण कहा जा सकता है[1]। यह प्रमाण दो भागोमे विभक्त है[2]—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष और अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि अन्य तार्किकोंके द्वारा अभिमत अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदि प्रमाणोका अन्तर्भाव प्रमाणके दूसरे भेद

---

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।'—परीक्षामु० १–१।

२. 'तद् द्वेधा,' 'प्रत्यक्षेतरभेदात्'—परीक्षामु० २–१,२।

परोक्षमें ही हो जाता है क्योंकि ये सभी ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायता लेकर उत्पन्न होनेके कारण अस्पष्ट है। इस परोक्ष प्रमाणमे ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क-जैसे अन्य कितने ही प्रमाणोका समावेश हो जाता है। वास्तवमे जैन दार्शनिकोकी यह विशेषता है कि उन्होने इतनी व्यापक, किन्तु अपने मे सीमित परोक्ष-प्रमाणकी परिभाषा वनायी कि उसमे इन्द्रियादि सापेक्ष सभी प्रमाण समा जाते हैं। इस परोक्ष प्रमाणके जैन विद्वानोने पाँच भेद माने है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यक्षके भी दो भेद है . १ साव्यवहारिक और २ पारमार्थिक। इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाकर होनेवाले एकदेश निर्मल ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप सव्यवहारका कारण होता है, इस लिए इसका नाम साव्यवहारिक है। स्वल्प निर्मलता युक्त होनेसे यह ज्ञान प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। पर वास्तवमें इन्द्रियादिकी सहायता सापेक्ष होनेसे यह साव्यवहारिक ज्ञान परोक्ष ही है। दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियोको सहायता रहित है, पूर्णतया निर्मल है और द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्रीकी परिपूर्णतासे जिसके आवरण दूर हो गये हैं। ऐसा ज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस प्रकारका नि सीम प्रत्यक्षज्ञान, जिसमे कोई प्रतिवन्ध नही और न इन्द्रियोकी सहायताकी अपेक्षा होती है, त्रिकालदर्शी अर्हन्तोको ही होता है। अशत व्यवहारदशामें वह योगियोको भी होता है, पर वह विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष है। सकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष केवल अर्हन्तोको होता है। निष्कर्ष यह कि विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है और दूसरे ज्ञानो या इन्द्रियादि सामग्रीकी सहायता लेकर होनेवाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान व परोक्ष प्रमाण है। ये दोनो ही प्रमाण प्रदीपकी तरह स्वपरप्रकाशक है और अज्ञानके निवर्त्तक एव हेयोपादेयोपेक्षाबुद्धिके जनक होनेसे सफल है तथा प्रमेयार्थके निश्चायक हैं। जैनदर्शनमें जहाँ विस्तारपूर्वक प्रमाणका निरूपण किया गया है वहाँ उसके विषयका भी विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत कृति :

अपने अभिमत दर्शनके सिद्धान्तोकी विवेचना करना प्रत्येक दार्शनिक को अत्यावश्यक होता है। प्रमाण-परिशुद्धिके विना स्वाभिमत दर्शनके तात्त्विक सिद्धान्तोकी स्थापना असम्भव है, इत्यादि अभिप्रायसे ही जैन-दार्शनिक श्रीनरेन्द्रसेनने 'प्रमाणप्रमेयकलिका' नामका यह लघुकाय प्रमाण-ग्रन्थ निर्मित किया है। विद्वान् ग्रन्थकारने इसमें अतिसंक्षेपमे दर्शनशास्त्र के प्रधान विषय प्रमाण और प्रमेयतत्त्वकी युक्तिपूर्ण एवं विशद विवेचना की है। नि सन्देह श्रीनरेन्द्रसेनकी यह भारतीय-दर्शनसाहित्यको अनुपम देन है। इसके प्रकाशनसे जैन-दर्शनके प्राथमिक जैन तथा जैनेतर सभी अभ्यासियोको बडा लाभ पहुँचेगा। मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ पूर्व पक्षके रूपमे कथित इतर दार्शनिकोके अभिमत प्रमाण-प्रमेयसिद्धान्तो और उत्तर-पक्षके रूपमे प्रतिपादित जैन दर्शनके प्रमाणादि सिद्धान्तोका ज्ञान करानेमे भली-भाँति समर्थ है। यह जैनदर्शनके तत्त्वोके जिज्ञासुओके लिए ही नही, किन्तु इतर दार्शनिकोके लिए भी उपादेय है।

हिन्दू विश्व-विद्यालयके संस्कृत-महाविद्यालयमे जैनदर्शनके प्राध्यापक श्री दरबारीलाल जैन कोठियाने आधुनिक शैलीसे इसका योग्यताके साथ सम्पादन करके और अपनी वैदुष्यपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामे इसके प्रतिपाद्य विषयोपर ऐतिहासिक दृष्टि तथा विषयक्रमका अनुसरण करते हुए प्रकाश डालकर इसे और भी अधिक उपादेय बना दिया है। आशा है यह कलिका अपने ज्ञान-सौरभसे विद्वानोंके मन-मधुकरको मुग्ध करेगी।

फाल्गुन कृष्णा १ वि.स. २०१८,
१९-२-६२

हीरावल्लभ शास्त्री
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ और उसका सम्पादन :

अक्तूबर सन् १९४४ मे कलकत्तामे वीरशासन-महोत्सव मनाया गया था। इसका आयोजन वीरसेवामन्दिर[1], सरसावा (सहारनपुर) की ओरसे उसके अध्यक्ष वा० छोटेलालजी जैन कलकत्ताके प्रयत्नोंसे हुआ था। उस समय हम इसी सस्थामे शोध-कार्य करते थे और इसलिए हमें भी उसमे सम्मिलित होनेका अवसर मिला था। वहाँसे लौटते समय संस्थाके सस्थापक आचार्य पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारके साथ एक दिनको आरा रुक गये थे। बहुत दिनसे मेरी इच्छा वहाँकी सुप्रसिद्ध साहित्यिक सस्था—जैन सिद्धान्त भवनको देखनेकी बनी हुई थी। भवनके विशाल ग्रन्थ-भण्डारको देखते समय हमे उसमे जैन न्याय-शास्त्रकी कई अप्रकाशित रचनाएँ दृष्टिगोचर हुईं। उनमें-से कुछ रचनाएँ मै सम्पादनके लिए अपने साथ लेता आया। दो-तीन ग्रन्थोकी पाण्डुलिपियाँ भी मैने उसी समय कर ली थी। पर उनमे-से किसीके सम्पादनका अवसर उस समय अन्य प्रवृत्तियोमे सलग्न रहनेके कारण मुझे न मिल सका। प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिका उन्ही पाण्डुलिपियोमें-से एक है और जिसका सम्पादन अब हो सका है।

गत वर्ष सन् १९६० के जूनमें जब श्रद्धेय मुख्तार साहबके साथ अनेक विद्या-प्रतिष्ठानोके प्रतिष्ठाता एव अभीक्ष्णज्ञानोपयोगमें निरत पूज्य श्री मुनि समन्तभद्रजी महाराजके पाद-सान्निध्यमें बाहुबली (कोल्हापुर) जानेका स्वर्णावसर प्राप्त हुआ, तो वहाँ प्रख्यात साहित्य-सेवी डा० ए. एन. उपाध्येसे भेंट हो गयी। साहित्यिक-चर्चा करते समय

---

१. यह सस्था अब दरियागज, देहलीमे आ गयी है।—सं०।

उपाध्येजीने मुझे माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके लिए उक्त प्रमाणप्रमेयकलिका के सम्पादनकी प्रेरणा की। फलत वह अब इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो रही है।

प्रति-परिचय :

हम ऊपर उल्लेख कर आये है कि आरम्भमे हमे आरा-भवनकी ही एकमात्र प्रति प्राप्त हुई थी। इसके बाद धर्मपुरा, दिल्लीके नया मन्दिर स्थित शास्त्र-भण्डारसे भी इसकी एक प्रति और मिल गयी। यह प्रति आरा-प्रतिकी मातृ-प्रति है—इसीपरसे उसकी प्रतिलिपि हुई है और आरा-प्रतिमे लगभग सवा-सौ वर्ष पुरानी है। ग्रन्थके सम्पादनमें हमने इन दोनो प्रतियोका उपयोग किया है। उनका परिचय इस प्रकार है :

१. द प्रति—यह दि० जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीके शास्त्र-भण्डारकी प्रति है। इसकी देहली सूचक 'द' सज्ञा है। इसमे कापीनुमा उतने ही लम्बे और उतने ही चौडे कुल १३ पत्र है। प्रत्येक पत्रके एक-एक पृष्ठमें १८, १८ पक्तियाँ और एक-एक पंक्तिमे प्राय. २४,२४ अक्षर है। अन्तिम पत्रके द्वितीय पृष्ठमें केवल ११ पक्तियाँ हैं। यह प्रति पुष्ट तथा अच्छी दशामें है और उसकी लिखावट स्वच्छ एवं साफ है। प्रति-लेखनका समय 'संवत् १८७१' अन्तमे दिया हुआ है, जिससे यह प्रति लगभग १५० वर्ष पुरानी स्पष्ट जान पड़ती है। यह बा० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीकी कृपासे प्राप्त हुई।

२. आ प्रति—यह जैन सिद्धान्त भवन आराकी प्रति है। इसकी आरा-बोधक 'आ' सज्ञा रखी है। आरम्भमे हमें यही प्रति मिली थी। इसमें पत्र-संख्या १० है। प्रत्येक पत्रमें उसके प्रथम तथा द्वितीय पृष्ठमे १२,१२ पंक्तियाँ है। पर प्रत्येक पंक्तिमे अक्षर-संख्या सम नही है। किसीमें ४८, ४९ ५०, किसीमें ५१, और किसीमें ५२, ५४, अक्षर है। लम्बाई १३॥ इंच तथा चौडाई ६॥ इच है। ऊपर कहा जा चुका है कि

इसकी देहलीकी प्रतिपरसे प्रतिलिपि करायी गयी है। जैसा कि इसके अन्तिम समाप्ति-पुष्पिका-वाक्यसे[1] भी प्रकट है। और जिसमे इस प्रतिके लेखनका भी समय 'संवत् १९९१' दिया गया है। यह प्रति भवनके तत्कालीन अध्यक्ष प्रो० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम. ए. आरा-द्वारा प्राप्त हुई थी और अब उसका परिचय मेरी प्रेरणा पाकर भवनके वर्तमान कार्यवाहक पं० ब्रह्मदत्तजी मिश्रने भेजा है।

इन दो प्रतियोंके अतिरिक्त हमे और कोई प्रति प्रयत्न करनेपर भी उपलब्ध नही हो सकी।

संशोधन और त्रुटित पाठ-पूर्ति :

यद्यपि दोनो प्रतियाँ अधिक प्राचीन नही है, फिर भी अनेक स्थलो पर काफी अशुद्ध पाठ मिले है और कई स्थानोपर वे त्रुटित भी प्रतीत हुए हैं। रचना-शैथिल्य भी हमे अनेक जगह खटका है। प्रस्तुत सस्करणमे हमने उन अशुद्ध पाठोको शुद्ध तथा त्रुटितोको पूर्ण करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया है। मूलकारकी कृतिको हमने ज्यो-का-त्यो रहने दिया है। हाँ, जहाँ कुछ असगति या न्यूनता जान पडी है वहाँ अपनी ओरसे सन्दर्भानुकूल [ ] ऐसे कोष्टकमे पाठोका निक्षेप करके उसे दूर करनेका आशिक प्रयत्न अवश्य किया है। यहाँ उदाहरणके लिए उन कतिपय अशुद्ध तथा त्रुटित पाठोको उनके शुद्ध एवं पूर्ण रूपोके साथ दिया जाता है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
उच्यन्ताम्	उच्यताम्	१
निवर्तेत	निवर्तते	६
अचेतनोऽर्थकरणं	अचेतनोऽर्थ. करणम्	७
प्रमाणप्रपञ्चता	प्रामाण्यप्रपञ्चता	८
प्रकृतिमहानिति	प्रकृतेर्महानिति	८

१. देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ ४६का पाद-टिप्पण।

सासनेभ्यः	शाश्वतेभ्य.	१३
प्रदीपाना	प्रदीपादीनाम्	१६
घटरूपत्वज्ञान	घट-रूप-रूपत्वज्ञान	१६
–त्मकमेव सर्वज्ञात्वे	व्यवसायात्मकत्वे	२२
कर्तृ-कर्म-क्रिया	कर्तृ-करण-क्रिया	२४
चक्षुरादि	चाक्षुपादि	२८
दर्शकप्रापकत्वादपि	दर्शकत्व-प्रापकत्वावि-	३०
प्रसारणकारणानि	प्रसारणानि	३३
वाधकत्वा नुपपत्ते	वाधितत्वानुपपत्ते.	३४
वस्तुन एकाशनात्	वस्तुन एव प्रकाशनात्	४०
त्रुटित		पृ०
अथाभिन्ना चेत्	दोनो प्रतियोमे नही है	८
इति	,, ,,	१६
प्रमाण	,, ,,	१७
परस्परसापेक्ष	,, ,,	२५
भवता	,, ,,	२६
नाप्यनुमानं तत्साधकम्, तस्य सम्वन्धग्रहणपूर्वकत्वात् ।		
सम्वन्धग्राहकं च न किंचित्प्रमाणमस्ति		२८
तत		२९
तस्य		३५
तत्र द्रव्याणि		३५
नवैव		३६
किं च, अन्यतोऽपि अनुमान-		३९
अपि		४५

अन्य कितनी ही अशुद्धियोंको मूल-ग्रन्थ और उसके पाद-टिप्पणसे जाना जा सकता है। यहां उन सबका उल्लेख करना आवश्यक नही है।

संस्करणकी विशेषताएँ :

(१) यह ग्रन्थ पहली वार प्रकाशित हो रहा है। प्राप्त प्रतियोके आधारसे पूर्ण सावधानीके साथ इसका सशोधन किया गया है। शुद्ध पाठको मूलमे रखा है और अशुद्ध पाठो एव पाठान्तरोको द्वितीय फुटनोटमे दे दिया है।

(२) विषय-विभाजन, उत्थानिका-वाक्योंकी योजना और अनुच्छेदो (पैराग्राफो) का विभागीकरण कर देनेसे ग्रन्थके अभ्यासियोको इसके अभ्यास करने एवं पढनेमे सौकर्य होगा और कठिनाईका अनुभव नही होगा।

(३) ग्रन्थमे आये हुए अवतरणोको इनवर्टेड कॉमाज़मे रख दिया गया है, जिससे उनका मूलग्रन्थसे सहजमें पृथक् बोध किया जा सके। साथ ही उनके मूल स्थानोको भी खोजकर उन्हें [ ] ऐसे कोष्टकमे दे दिया है। अथवा मूल स्थानके न मिलनेपर उसे खाली छोड दिया है।

(४) ग्रन्थके विषयसे संवद्ध उन उद्धरणोको भी दूसरे ग्रन्थोंसे तुलनात्मक टिप्पणोंके रूपमे पहले फुटनोटमें दे दिया गया है, जिनसे प्रकृत विषयको समझनेमे पाठकोको न केवल सहायता ही मिलेगी, अपितु उनसे उनका इस विषयका ज्ञान भी सम्पुष्ट होगा।

(५) ग्रन्थकी विषय-सूची और पाँच परिशिष्टोकी योजना भी की गयी है, जो वहुत उपयोगी सिद्ध होगे।

(६) हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीके सस्कृत-महाविद्यालयमें दर्शन-विभागाध्यक्ष विद्वद्वर प्रो० हीराबल्लभजी शास्त्रीका महत्त्वपूर्ण प्राक्कथन, जो कई विषयोपर अच्छा प्रकाश डालता है, सस्करणकी उल्लेखनीय विशेषता है।

(७) प्रस्तावनामें जैनन्यायके दोनो उपादानो—प्रमाण और प्रमेय-तत्त्वो पर विस्तृत एव तुलनात्मक विचार किया गया है। साथमे ग्रन्थ और ग्रन्थ-कारके सम्बन्धमे ऊहापोहपूर्वक पर्याप्त तथा अभीष्ट सामग्री प्रस्तुत की

गयी है। कहना न होगा कि प्रस्तावना जैनन्यायके अभ्यासियो और अनेक विद्वानोकी बौद्धिक भूखको मिटानेमे सक्षम होगी।

कृतज्ञता-ज्ञापन :

प्रस्तुत सस्करणको इस रूपमे उपस्थित करनेमें जिन महानुभावोकी मुझे सहायता एव प्रेरणादि मिले हैं, उनका आभार प्रकाशित करना मेरा विशिष्ट कर्तव्य है।

गुरुदेव पूज्य श्रीमुनि समन्तभद्रजी महाराजका सान्निध्य न मिला होता तो इस ग्रन्थका सम्पादन और प्रकाशन सम्भवत. इतनी जल्दी न हो पाता। सम्माननीय डा. ए एन उपाध्ये कोल्हापुरने मुझे इस ग्रन्थके सम्पादनके लिए न केवल प्रेरित एव प्रोत्साहित किया है, अपितु उन्होने समय-समयपर अनेक परामर्श भी देकर अनुगृहीत किया है। समादरणीय विद्वद्वर पण्डित हीरावल्लभजी शास्त्रीने अपना विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन लिखकर मुझे विशेष आभारी बनाया है। श्री पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम वाराणसीके अधिष्ठाता माननीय प० कृष्णचन्द्राचार्यने अपनी लायब्रेरीसे उदारतापूर्वक अनेक ग्रन्थ देकर बहुत सुविधा प्रदान की है। भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी लायब्रेरीसे उसके सुयोग्य व्यवस्थापक पण्डित बाबूलालजी फागुल्लने भी आवश्यक ग्रन्थोकी व्यवस्था करके मुझे मदद पहुँचायी हैं। मित्रवर पण्डित परमानन्दजी शास्त्री दिल्लीने मेरे पत्रका उत्तर देकर तीन नरेन्द्रसेनोंके नाम भेजे है। इन सभी सहायको तथा पूर्वोल्लिखित प्रति-दाताओका मैं बहुत आभारी हूँ। अन्तमें उन ग्रन्थकारो तथा सम्पादकोका भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थो आदिसे मुझे कुछ भी सहायता मिली है।

सम्पादक

भाद्रशुक्ला पञ्चमी,
वीरनिर्वाण संवत् २४८७,
१५ सितम्बर १९६१,

दरबारीलाल जैन कोठिया
न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम. ए
प्राध्यापक, सस्कृत-महाविद्यालय,
हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

जैन न्यायकी यह लघु, किन्तु महत्त्वपूर्ण, रचना अभीतक कहीसे प्रकाशित नही हुई और न किसी विद्वान्‌के द्वारा इसके तथा इसके कर्त्ताके सम्बन्धमें कोई प्रकाश डाला गया है। यह प्रथम वार प्राचीन जैन ग्रन्थोंकी समुद्धारक प्राकृत-संस्कृत-ग्रन्थावलि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशमें आ रही है। अत यह आवश्यक है कि इस कृति और उसके कर्त्ताके सम्बन्धमें यहाँ कुछ प्रकाश डाला जाय।

१. ग्रन्थ

(क) प्रमाणप्रमेयकलिका :

यह जैन तार्किक श्री नरेन्द्रसेनकी मौलिक न्याय-विषयक कृति है और जैन न्यायके प्राथमिक अभ्यासियों एवं जिज्ञासुओंके लिए बडी उपयोगी है। इसमें प्रमाण और प्रमेय इन दो तत्त्वोंपर संक्षेपमें विशद, सरल और तर्कपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

(ख) नाम :

न्याय-साहित्यके इतिहाससे मालूम होता है कि न्याय-ग्रन्थकारोंने अपने न्याय-ग्रन्थ या तो 'न्याय' शब्दके साथ रचे है, जैसे न्यायसूत्र, न्यायवार्तिक, न्यायप्रवेश आदि। अथवा, 'प्रमाण' या 'प्रमेय', या दोनों 'प्रमाण-प्रमेय' शब्दोंके साथ उनकी रचना की है, जैसे प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसंग्रह, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला, प्रमाणप्रमेयन्याय[1] आदि। कितने ही ऐसे भी

---

१ इसका उल्लेख 'जैन ग्रन्थावली' पृष्ठ ७१, वर्ग १ में है और उसे २२४ ताडपत्रोंका ग्रन्थ तथा जैसलमेरमें होनेका निर्देश किया गया है। यह अप्रकाशित ग्रन्थ है।

ग्रन्थ उपलब्ध है, जो 'कलिकान्त' रचे गये है, जैसे जयन्त भट्टकी न्याय-कलिका, राजशेखरकी स्याद्वादकलिका[1], जिनदेवकी कारुण्यकलिका[2], पादलिप्ताचार्यकी निर्वाणकलिका,[3] कवि ठाकुरकी महापुराणकलिका[4] आदि। जान पड़ता है कि नरेन्द्रसेनने अपनी प्रस्तुत कृतिका भी नाम इन ग्रन्थोको ध्यान में रखकर 'प्रमाणप्रमेयकलिका' रखा है। उसका यह यथार्थ गुणनाम है और वह ग्रन्थके पूर्णत. अनुरूप है।

(ग) भाषा और रचना-शैली :

यद्यपि न्याय-ग्रन्थोकी भाषा कुछ जटिल और दुरूह रहती है, पर इसकी भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। बीच-बीचमें कही मुहाविरो, न्याय-वाक्यो और विशेष-पदोका भी प्रयोग किया गया है और उनसे रचनामें सौष्ठव एवं वैशिष्ट्य आ गया है। उदाहरणार्थ विषयकी लोक-प्रसिद्धि बतलानेके लिए दो स्थलोपर 'आ–विद्वदङ्गना–सिद्ध' इस मुहाविरेका प्रयोग किया गया है। योगदृष्टिसमुच्चयमे भी आचार्य हरिभद्रने इस मुहाविरेका निम्न प्रकार प्रयोग किया है :

१, इसका भी उल्लेख उक्त 'जैन ग्रन्थावली' पृष्ठ ८१, वर्ग २ में २१ नं० पर किया गया है और वह 'राजशेखर (१२१४)' की रचना बतलाई गई है तथा इसमें ४० कारिकाओं एवं ४ पत्रोंके होनेका निर्देश है। यह भी अप्रकाशित है।

२ यह लेखकके द्वारा सम्पादित तथा अनूदित 'न्यायदीपिका' पृष्ठ १११ तथा प्रो० महेन्द्रकुमारजीके 'जैन दर्शन' पृष्ठ ६२८ पर उल्लिखित है।

३. यह नित्यकर्म, दीक्षा, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठापद्धति आदिका वर्णन करनेवाली 'मुनि मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला बम्बई' से प्रकाशित एक कर्मकाण्डविषयक जैन रचना है।

४. इसका निर्देश 'अनेकान्त' वर्ष १२, किरण ७,८ में है और यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

आ—विद्वदङ्गना-सिद्धमिदानीमपि दृश्यते ।
एतन्न्यायस्तदन्यत्तु सु-वह्वाऽऽगम-भाषितम् ॥
—योगदृ० स० पृ० ११, श्लोक ५५ ।

नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिकामे आचार्य प्रभाचन्द्रकी पद्धतिका अनुसरण किया है और उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तरह विकल्पो एव तर्को द्वारा वक्तव्य विषयोकी समालोचना और ऊहापोह किया है। आरम्भमें 'ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यताम्' इन शब्दोके साथ तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करके वादको उन्होने प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वकी मीमासा की है।

(घ) वाह्य विषय-परिचय :

यद्यपि ग्रन्थकारने ग्रन्थको स्वय प्रकाशो या परिच्छेदोकी तरह किन्ही विभागो या प्रकरणोमें विभक्त नही किया है तथापि जहांतक प्रमाणकी मीमासा है वहांतक प्रमाणतत्त्व-परीक्षा और उसके वाद प्रमेयतत्त्वकी मीमासा होनेसे प्रमेयतत्त्व-परीक्षा, इस प्रकार दो प्रकरणोमें इसे विभाजित किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थमें हमने ये दो प्रकरण कल्पित किये है और जिनका विषय-वर्णन इस प्रकार है।

१ **'प्रमाणतत्त्व-परीक्षा'** प्रकरणमें प्रभाकरके 'ज्ञातृव्यापार', साख्य-योगोंके 'इन्द्रियवृत्ति', जरन्नैयायिक भट्ट जयन्तके 'सामग्री' अपरनाम 'कारक-साकल्य' और योगोंके 'सन्निकर्ष' इन विभिन्न प्रमाण-लक्षणोकी परीक्षा करके 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' को प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया है। ज्ञानके कारणोपर विचार करते हुए नरेन्द्रसेनने इन्द्रिय और मनको ज्ञानका अनिवार्य कारण वतलाया है और जो अर्थ तथा आलोकको भी उसका अनिवार्य कारण मानते है उनकी उन्होने सोपपत्तिक आलोचना की है। प्रमाणका साक्षात् और परम्परा फल वतलाकर उसे प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न प्रदर्शित किया है। वौद्ध अपने चारो

प्रत्यक्षो[1] को अविसवादी तो मानते है, पर उन्हे वे व्यवसायात्मक स्वीकार नही करते। ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमे उसकी भी मीमासा की है और उन्हे व्यवसायात्मक सिद्ध किया है। प्रकरणके अन्तमे मीमामक आदि उन दार्श-निकोकी भी आलोचना की है जो ज्ञानको अ-स्वसवेदी स्वीकार करते है तथा उनके द्वारा दिये गये 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोपका परिहार करते हुए उसे उन्होने स्वसवेदी प्रसिद्ध किया है।

२ **'प्रमेयतत्त्व-परीक्षा'** मे सांख्योंके सामान्यका, बौद्धोके विशेपका, वैशेपिकोके परस्परनिरपेक्ष सामान्य-विशेषोभयका और वेदान्तियोके परम-ब्रह्मका सविस्तर परीक्षण करके सापेक्ष सामान्य-विशेषोभय तत्त्वको प्रमाण-का विपय—प्रमेय सिद्ध किया गया है। बौद्ध तत्त्वको 'सकल-विकल्पवा-ग्गोचरातीत' कहकर उसे केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षगम्य प्रतिपादन करते है। नरेन्द्रसेनने बौद्धोकी इस मान्यतापर भी विचार किया है और शब्द तथा अर्थमे वास्तविक वाच्य-वाचक सम्बन्ध एव सहज योग्यताके होनेका निर्देश करते हुए तत्त्वको निश्चयात्मक ज्ञानका विषय युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। साथ ही समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' को 'तत्त्वं विशुद्धम्' इत्यादि कारिकाको उद्धृत करके उससे उसे प्रमाणित किया है।

इस तरह यह प्रमाणप्रमेयकलिकाका वाह्य विषय-परिचय है। अब उसका आभ्यन्तर विपय-परिचय भी प्रस्तुत किया जाता है।

(ङ) आभ्यन्तर विषय-परिचय :

१. मङ्गलाचरण

ग्रन्थके आरम्भमे मङ्गल करना प्राचीन भारतीय आस्तिक परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने गये है। वे ये है :—

१ निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, २. शिष्टाचार-परिपालन, ३. नास्ति-कता-परिहार, ४ कृतज्ञता-प्रकाशन और ५. शिष्य-शिक्षा।

---

१. 'तच्चतुर्विधम्'—न्यायविन्दु पृष्ठ १२।

इन प्रयोजनोको सग्रह करनेवाला निम्न लिखित पद्य है, जिसे पण्डित-प्रवर आशाधरजी (वि० स० १३००) ने अपने अनगार-धर्मामृतकी टीका (पृ० १) मे उद्धृत किया है।

नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्॥

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमे ग्रन्थारम्भके समय सर्वप्रथम यह कामना होती है कि 'यह प्रारम्भ किया गया मेरा कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय।' न्याय तथा वैशेषिक दोनो दर्शनोमे 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इस वाक्य-को श्रुति-प्रमाणके रूपमे प्रस्तुत करके समाप्ति और मङ्गलमें कार्यकारण-भावकी स्थापना की गई है।[1] जहाँ मङ्गलके होनेपर भी समाप्ति नही देखी जाती वहाँ मङ्गलमे कुछ न्यूनता—साधनवैगुण्यादि बतलाई गई है तथा जहाँ मङ्गलके विना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना की गई है और इस तरह प्राचीन नैयायिकोने समाप्ति एवं मङ्गलमें कार्यकारणभावकी सगति बिठाई है। नवीन नैयायिकोका मत है[2] कि मङ्गलका सीधा फल तो विघ्नध्वस है और समाप्ति ग्रन्थकर्ताकी प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थका फल है। इनके अनुसार विघ्नध्वस और मङ्गलमें कार्यकारणभाव है।

२ मङ्गल करना एक शिष्ट कर्त्तव्य है। इससे सदाचारका पालन होता है। अत प्रत्येक ग्रन्थकारको इस शिष्टाचारका पालन करनेके लिए ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना आवश्यक है।

३ परमात्माका गुणस्मरण करनेसे परमात्माके प्रति ग्रन्थकर्त्ताकी भक्ति, श्रद्धा और आस्तिक्य बुद्धि जानी जाती है और इस तरह नास्तिकताका परिहार होता है। अत. ग्रन्थकर्ता इस प्रयोजनसे भी ग्रन्थारम्भमे मङ्गल करते हैं।

---

१ २. देखिए, सिद्धान्तमुक्तावली पृ० २।

(४) ग्रन्थ-सिद्धिमे अधिकागत गुरुजन निमित्त होते है। चाहे वे उसमे साक्षात् सम्बद्ध हो या परम्परा। उनका वरद आशीर्वाद और स्मरण उसमे अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रोसे सुबोध प्राप्त न हो तो ग्रन्थ-निर्माण नही हो सकता। इसलिए कृतज्ञ ग्रन्थकार अपने ग्रन्थके आरम्भमें कृतज्ञता-प्रकाशन करनेके लिए उनका स्मरण अवश्य करते है।[1]

(५) पाँचवाँ प्रयोजन शिष्य-शिक्षा है। इस प्रयोजनसे भी ग्रन्थकार चिकीर्षित शास्त्रके आदिमे मङ्गल करते है, क्योकि वे जानते है कि ऐसा करनेसे शिष्य-गण भी मङ्गल करेंगे और इस श्रेष्ठ परम्पराको वे स्थिर रखेंगे।

जैन परम्परामे ये सभी प्रयोजन स्वीकार किये गये है और उनका समर्थन किया गया है। आचार्य विद्यानन्दने इन प्रयोजनोके अतिरिक्त एक प्रयोजन और बतलाया है और उसपर उन्होने सबसे अधिक बल दिया है। वह है 'श्रेयोमार्गसंसिद्धि'।[2] उनने लिखा है कि अन्य प्रयोजन तो पात्रदानादिसे भी सम्भव है,[3] पर श्रेयोमार्गकी सिद्धि एकमात्र परमेष्ठिगुण-स्मरणसे ही हो सकती है। अत श्रेयोमार्गसिद्धि विद्यानन्दके अभिप्राया-

---

१ अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसाद-प्रबुद्धै-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥

—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २, उद्धृत।

२. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥

—आप्तपरी० पृ० २, कारि० २।

३. देखिए, आप्तपरी० पृ० ११।

नुसार मङ्गलाचरणका मुख्य प्रयोजन है। इस मङ्गलाचरणका जैन वाङ्मयमें विस्तृत, विशद और सूक्ष्म विवेचन किया गया है[1]।

प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकामें नरेन्द्रसेनने भी अपनी पूर्व परम्परानुसार मङ्गलाचरण किया है। इतना अवश्य है कि उन्होने विद्यानन्दकी प्रमाण-परीक्षाके मङ्गलाचरणको ही अपने ग्रन्थका मङ्गलाचरण बना लिया है। ऐसा करके उन्होंने उसी प्रकार अपनी सग्रहशालिनी एव उदार बुद्धिका परिचय दिया है जिस प्रकार पूज्यपादने आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रगत मङ्गल-श्लोकको अपनी सर्वार्थसिद्धिका मङ्गलाचरण बनाकर दिया है[2]। अत इस प्रकारकी प्रवृत्ति ग्रन्थकर्ताके हृदयकी विशालता और संग्राहक बुद्धिको प्रकट करती है।

२. तत्त्व-जिज्ञासा :

तत्त्व-विचारकोंके समक्ष 'तत्त्व क्या है ?' यह ज्वलन्त प्रश्न सदा रहा है और उसपर उन्होंने न्यूनाधिक रूपमे विचार किया है। जो विचारक उसकी जितनी गहराई और तह तक पहुँच सका, उसने उसका उतना विवेचन किया। कई विचारकोंने तो बालकी खाल निकालनेका प्रयत्न किया है और तत्त्वको विकल्पजालमें आबद्ध (फांस) कर या तो उसे 'उपप्लुत' कह दिया है और या उसे 'शून्य' के रूपमें मान लिया है। तत्त्वोप्लववादी प्रमाण और प्रमेय दोनो तत्त्वोंको उपप्लुत (बाधित) बतलाकर 'तत्त्वोपप्लववाद' की स्थापना करते हैं। शून्यवादी उन्हे शून्य रूपमे स्वीकार करते है। उनकी दृष्टिमें न प्रमाण तत्त्व है और न प्रमेय तत्त्व—केवल शून्य तत्त्व है। ये विचारक तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वको स्वीकार करते

---

१. देखिए, तिलोयपण्णत्ति १–८ से १–२१ तथा धवला १–१–१।

२ देखिए, 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६–७, १०–११। तथा आप्तपरी० की प्रस्ता० पृ० २।

समय अपनी सत्ताको भी खो देते है।[1] और जब उनकी अपनी सत्ता ही नही रहती, तब तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वका साधन कौन करेगा? दूसरी बात यह है[2] कि जब किसी निर्णीत वस्तुको स्वीकार ही नही किया जाता—सभी विषयोमे विवाद है तो किसी भी विषयपर—यहाँतक कि उनके अभिमत तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वपर भी विचार नही किया जा सकता।

कितने ही चिन्तक तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करके भी उसे अवक्तव्य शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत आदिके कटघरेमे बन्द कर लेते हैं और उसकी सिद्धिके लिए एडीसे चोटीतक पसीना बहाते है। पर ये चिन्तक भी यह भूल जाते है कि तत्त्व जब सर्वथा अवक्तव्य है[3] तो शब्द-प्रयोग किसलिए किया जाता है और उसको किये बिना दूसरोको उसका बोध कैसे कराया जा सकता है? उस हालतमें तो केवल मौन ही अवलम्बनीय है।[4] तथा जो उसे सर्वथा अद्वैत—एक मानते है वे साध्य-साधनका द्वैत माने बिना कैसे अपने अभिमत 'अद्वैत' तत्त्वकी स्थापना कर सकते है,

---

१ 'तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, तथातत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात्।'—अष्टस० पृ० ३७ तथा पृ० ४२।

२ किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा॥—अष्टस० पृ० ४२।

३. सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।
संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थ-विपर्ययात्॥

—आप्तमी० का० ४९।

४. अशक्यादवाच्यं किमभावात्किमबोधत।
आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम्॥

—आप्तमी० का० ५०।

क्योकि उसके साधनरूपमें उपस्थित किये जानेवाले हेतु, तर्क और प्रमाण द्वैतवादमें ही सम्भव है, अद्वैतमें नही।[1]

द्वैतवादी साख्य-योग, न्याय-वैशेपिक, मीमासक और बौद्ध दार्शनिकोने भी तत्त्वपर यद्यपि विस्तारसे विचार किया है, पर उन्होने उसके एक-एक पहलूको ही मानकर उसको पूरा समझ लिया है। जैन दार्शनिकोने उसपर गहरा और सूक्ष्म चिन्तन किया है और वे इस निष्कर्पपर पहुँचे हैं कि तत्त्व अनेकान्तस्वरूप है। आचार्य समन्तभद्रने 'आप्तमीमासा' मे[2] तत्त्वको दो भागोमे विभक्तकर उसपर विशद प्रकाश डाला है। उनके व्याख्याकार अकलङ्क और विद्यानन्दने भी उनकी तत्त्व-व्यवस्थाको सुपुष्ट तथा पल्लवित किया है। यहाँ हम तत्त्वके भेदो एवं उपभेदोको एक रेखा-चित्र द्वारा दे रहे है, इससे उनके समझनेमे सुविधा मिलेगी। वह रेखाचित्र इस प्रकार है :

---

१ अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥

—इत्यादि आप्तमी० का० २४ से २७ तक।

२ यहाँ ज्ञातव्य है कि कारिका ७६ से ८७ तक (छठे और सातवे परिच्छेदमें) ज्ञापक—प्रमाण-उपायतत्त्वकी और कारिका ८८ से ९१ तक (आठवे परिच्छेदमें) कारक-उपायतत्त्व—दैव तथा पुरुषार्थकी परीक्षा की गयी है और कारिका ९२ से ९५ तक (नवमें परिच्छेदमें) दैव (पुण्य तथा पाप) की उत्पत्तिके कारणोकी मीमांसा की गयी है। कारिका ९६ से १०० तक (दशवें परिच्छेदमें) बन्ध-मोक्षकी तथा कारिका १०१ से ११२ तक प्रमाणके स्वरूप, उसके फल, नय और स्याद्वादकी व्यवस्था प्रतिपादित है। इस तरह समन्तभद्रकी 'आप्तमीमासा' वस्तुत· तत्त्व-मीमांसा है।

तत्त्व
उपाय तत्त्व
उपेय तत्त्व
ज्ञापक
कारक
ज्ञेय
कार्य
प्रमाण (ज्ञान)
कारण
प्रत्यक्ष
परोक्ष
उपादान
निमित्त
दैव-पौरुषादि
सांव्यवहारिक
मुख्य
इन्द्रिय मति
अनिन्द्रिय मति
विकल
सकल
स्मृति
प्रत्यभिज्ञान
तर्क
अनुमान
श्रुत (आगम)
केवल
अवधि
मन.पर्यय
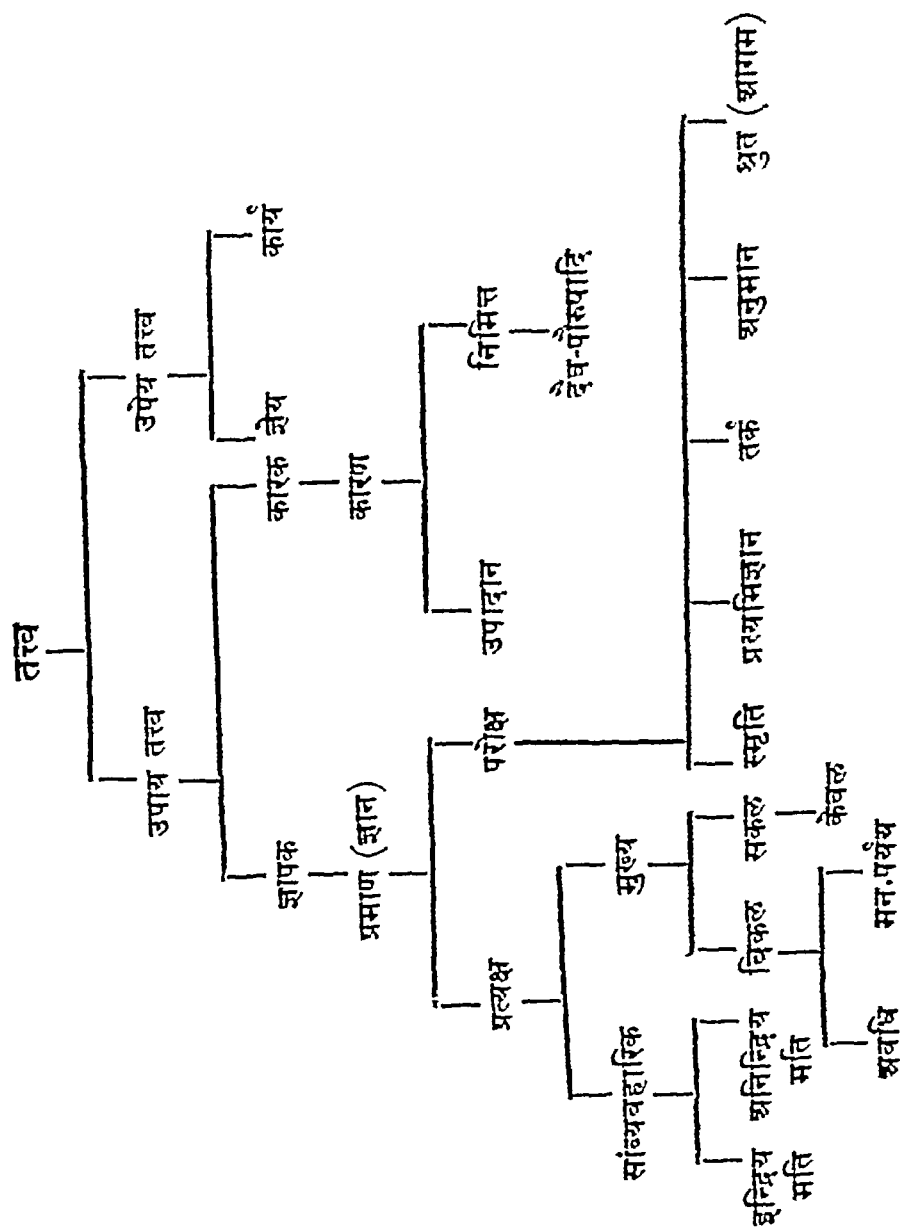
प्रमाणप्रमेयकलिकामे नरेन्द्रसेनने भी तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करते हुए उसे नाम-सिद्ध मानकर उसके विशेषो—प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोपर संक्षेपमें मीमासा उपस्थित की है ।

३. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा :

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारो पर्याय शब्द हैं । जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है और तत्त्व, अर्थ तथा वस्तु अस्तित्व-स्वभावकी सीमासे बाहर नही है—वे तीनो भी अस्तित्ववाले हैं । इसलिए सत्का जो अर्थ है वही तत्त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोका है वही सत्का है । निष्कर्ष यह कि ये चारो समानार्थ हैं । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि तत्त्व दो समूहोमे विभक्त है । वे दो समूह हैं—१. उपाय और २ उपेय । उपायतत्त्व दो प्रकार है[1]—१ ज्ञापक (प्रमाण) और २ कारक (कारण) । उपेयतत्त्व भी दो तरहका है—१ ज्ञाप्य (ज्ञेय-प्रमेय) और २. कार्य (उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ) । इनमेसे यहाँ ज्ञापक (प्रमाण) और ज्ञाप्य (प्रमेय) ये दो ही चर्चाका विषय अभिप्रेत हैं । अन्य तार्किकोने भी इनपर विचार किया है और उनके स्वरूप निर्धारित किये है । साथ ही प्रमाणको व्यवस्थापक तथा प्रमेयको व्यवस्थाप्यके रूपमे स्वीकार किया है ।[2] प्रकृतमे देखना है कि उनके वे स्वरूप युक्तिसगत है या नही ? यदि नही तो उनके युक्तिसगत स्वरूप क्या है ?

(अ) ज्ञातृव्यापार-परीक्षा :

सर्वप्रथम प्रमाणके स्वरूपपर विचार किया जाता है । प्रभाकरका मत है[3]

---

१. 'उपायतत्त्वम्—ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम् । तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानम् । कारक तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि ।'

—अष्टस० टिप्प० पृ० २५६ ।

२ 'प्रमेयसिद्धि· प्रमाणाद्धि ।'

—सांख्यका० ३ ।

३ देखिए, शास्त्रदी० पृ० २०२ तथा मीमांसाश्लोक० पृ० १५२ ।

कि जिसके द्वारा अर्थप्रकाशन होता है वह प्रमाण है और अर्थप्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है। जवतक ज्ञाता वस्तुको जाननेके लिए व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति नही करता तवतक उसे वस्तुका ज्ञान नही होता। यह देखा जाता है कि वस्तु, इन्द्रियाँ और ज्ञाता ये तीनो विद्यमान रहते है, पर वस्तुका ज्ञान नहीं होता। किन्तु ज्ञाता जब व्यापार करता है तब उसका ज्ञान अवश्य होता है। अत ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण मानना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थमें इसकी मीमासा करते हुए कहा गया है कि ज्ञाताका व्यापार ज्ञातासे भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उनमे—ज्ञाता और व्यापारमें सम्बन्ध सम्भव नही है। यदि भिन्नोमें सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो जिस प्रकार भिन्न ज्ञाताके साथ भिन्न व्यापारका सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार पदार्थान्तरके साथ भी व्यापारका सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि भिन्नता दोनोमे समान है। और यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि ज्ञाताके साथ ही व्यापारका सम्बन्ध है, पदार्थान्तरके साथ नही, क्योंकि वह ज्ञाताका ही व्यापार है, पदार्थान्तरका नही, तो यह वतलाना चाहिए कि वह व्यापार क्रियात्मक है या अक्रियात्मक ? यदि क्रियात्मक है तो वह क्रिया उस (व्यापार) से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो भिन्न पक्ष-सम्बन्धी पहले कहा गया दोष पुन आता है। यदि अभिन्न है तो या तो व्यापारमात्र रहेगा या क्रियामात्र, क्योंकि अभेदमे दोमेंसे कोई एक ही रहता है, दूसरा उसीके अनुरूप हो जाता है। यदि वह व्यापार अक्रियात्मक है तो वह व्यापार कैसे ? क्योंकि व्यापार तो क्रियारूप होता है, अक्रियारूप नही। अत. व्यापार ज्ञातासे भिन्न तो नही वनता। अभिन्न भी वह सम्भव नही है, क्योंकि प्रथम तो दोनो एक हो जायेंगे—'ज्ञाता और ज्ञातृव्यापार' यह भेद फिर नही हो सकता। दूसरे, प्रभाकरने उसे ज्ञातासे अभिन्न स्वीकार भी नही किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्न और उठते है। प्रभाकरसे पूछा जाता है

कि वह व्यापार नित्य है या अनित्य? नित्य तो उसे माना नही जा सकता, क्योकि वह ज्ञातासे उसी तरह उत्पन्न होता है जिस तरह घट मिट्टीसे होता है। यदि उसे अनित्य कहा जाय तो वह भी ठीक नही है, क्योकि उसका कोई उत्पादक कारण नही है। आत्माको उसका उत्पादक कारण मानना सम्भव नही है, कारण वह नित्य है और नित्यमे अर्थक्रिया बनती नही। स्पष्ट है कि अर्थक्रिया क्रमश या युगपत् होती है और क्रम तथा यौगपद्य नित्यमे बनते नही। अत. वे दोनो नित्यसे निवृत्त होते हुए अपनी व्याप्यभूत अर्थक्रियाको भी निवृत्त कर लेते है। वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्व-को निवृत्त कर देती है। कौन नही जानता कि व्यापककी निवृत्तिसे व्याप्य-की भी निवृत्ति हो जाती है। इस तरह नित्यमे सत्त्वके न रहनेपर वह खरविषाणसदृश है। अत. ज्ञाताका व्यापार न नित्य सिद्ध होता है और न अनित्य। इसी तरह यह भी पूछा जा सकता है कि वह चिद्रूप है या अचिद्रूप? यदि चिद्रूप है तो वह स्वसवेदी है या अस्वसवेदी? प्रथम पक्षमे अपसिद्धान्त है और द्वितीय पक्ष अयुक्त है, क्योकि कोई भी चिद्रूप अस्वसवेदी नही हो सकता। यदि उसे अचिद्रूप कहा जाय तो उसमे अर्थप्रकाशन नही हो सकता।

निष्कर्ष-यह कि व्याप्तृ—आत्मा और व्याप्य—अर्थके सम्बन्धका नाम व्यापार है[1]। यत व्याप्य—अर्थ जड है, अत उसका सम्बन्ध भी जड है और जड (अज्ञान) से अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा नही हो सकती। अज्ञान-

---

1. 'अथवा, ज्ञानक्रियाद्वारको य. कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परसम्बन्धो व्याप्तृ-व्याप्यत्वलक्षण स मानसप्रत्यक्षावगत विज्ञानं कल्पयति।'—शास्त्रदी० पृ० २०२।

'तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती कारण च धी'॥
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्।'—
—मी० श्लो० पृ० १५२।

की निवृत्तिके लिए तो अज्ञानविरोधी होना चाहिए और अज्ञान-विरोधी है ज्ञान, जडरूप व्यापार नही । अत ज्ञाताका व्यापार प्रमाणका स्वरूप सम्भव नही है, तव उससे प्रमेयकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ?

(आ) इन्द्रियवृत्ति-परीक्षा :

साख्योका[१] कहना है कि जवतक इन्द्रियाँ अपना उद्घाटनादि व्यापार नही करती तवतक अर्थका प्रकाशन नही होता। अतः अर्थप्रकाशनमे इन्द्रियोकी वृत्ति (व्यापार) करण होनेसे वह वृत्ति ही प्रमाण है, इन्द्रियाँ मन, आत्मा या उनका संनिकर्प आदि नही; क्योकि उनके रहते हुए भी इन्द्रियोके व्यापारके अभावमें अर्थपरिच्छित्ति नही होती। अत. इन्द्रिय-व्यापारको ही प्रमाण मानना उचित है।

यहाँ विचारणीय है कि इन्द्रियोका व्यापार अर्थप्रमितिमें साधकतम है या नहीं ? क्योकि करण वही होता है जो साधकतम होता है—'साधकतमं करणम्' । पर इन्द्रियव्यापार अर्थ-प्रमितिमे साधकतम नही है, सिर्फ साधक है। इन्द्रियव्यापारसे ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानसे अर्थप्रमिति होती है। अत अर्थप्रमितिमें अव्यवहित—साक्षात्कारण ज्ञान है और इसलिए वही सावकतम है। इन्द्रियव्यापार अर्थप्रमितिमें व्यवहित—परम्परा कारण है, अत· वह उसमें सावकतम नहीं है। दूसरे, इन्द्रियाँ प्रकृतिका परिणाम होनेसे अचेतन हैं। अत. उनका व्यापार भी अचेतन—अज्ञानरूप है। और अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमामें साधकतम नहीं हो सकता और जब वह साधकतम नही, तो वह प्रमाण कैसे ?

इसके अलावा, एक प्रश्न यह होता है कि वह इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोंसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो यह वतलाना चाहिए कि वह उनका धर्म है या पृथक् पदार्थ ? यदि वह उनका धर्म है तो उनका परस्परमें कौन-

---

१. 'प्रमाणं वृत्तिरेव च ।'—योगवा० पृ० ३०, साख्यप्र० भा० १–८७ ।

सा सम्बन्ध है ? क्या तादात्म्य है या समवाय है या सयोग है ? यदि तादात्म्य है तो वह व्यापार श्रोत्रादिमात्र ही रहेगा और वे श्रोत्रादि सुप्तावस्थामें भी विद्यमान रहती है तब उस समय भी अर्थपरिच्छित्ति होना चाहिए। यदि कहा जाय कि उनमे समवाय सम्बन्ध है तो समवाय तो एक, नित्य और व्यापक है तथा श्रोत्रादिका सद्भाव भी सर्वत्र है, ऐसी स्थितिमे प्रतिनियत देशमे व्यापारके होनेका नियम समाप्त हो जायगा[1] और अर्थपरिच्छित्ति सर्वदा होगी। दूसरे, साख्योने समवायको स्वीकार भी नही किया। अगर उनका सम्बन्ध सयोग माना जाय तो वह इन्द्रियोका व्यापार न होकर पृथक् द्रव्यपदार्थ बन जायगा, क्योकि सयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यपदार्थोंमें होता है। धर्म-धर्मीमें नही। अत इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोका धर्म सिद्ध नही होता। यदि उसे पृथक् पदार्थ माना जाय, तो वह उनका व्यापार नहीं कहा जा सकेगा, जैसे पृथक् घटादि पदार्थ इन्द्रियोका व्यापार नही माने जाते। यदि व्यापार इन्द्रियोंसे अभिन्न है तो तादात्म्य पक्षमे जो दोष आता है वही दोष अभिन्न पक्षमे भी विद्यमान है।

तीसरे, इन्द्रियोका व्यापार तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा संशय आदि मिथ्याज्ञानोमें भी प्रयोजक होता है, पर वे ज्ञान प्रमाण नही हैं। अतः इन्द्रियोके व्यापारको प्रमाण मानना सगत नही है। हाँ, ज्ञानमे कारण होनेसे उसे उपचारसे प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। मुख्य रूपसे तो ज्ञान ही प्रमाण है।

(इ) कारकसाकल्य-परीक्षा :

जयन्त भट्ट और उनके अनुगामी वृद्ध नैयायिकोका अभिमत है[2] कि अर्थोपलब्धिमे अर्थ, आलोक, इन्द्रिय, आत्मा और ज्ञान आदि सभी कारणो-

---

१ 'प्रतिनियतदेशवृत्तिरभिव्यज्येत्।'—प्रमेयक० पृ० १९।

२ 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।'—न्यायमं० पृ० १२।

का यथोचित योगदान होता है । इनमेसे यदि एककी भी कमी रहे तो अर्थोपलब्धि नही हो सकती । अत सामग्री अथवा कारकसाकल्य (कारकोंकी समग्रता) प्रमाण है ।

जैन तार्किकोका कहना है[1] कि प्रमाके प्रति जो करण है वही प्रमाण है और करण वह होता है जो अव्यवहित एवं असाधारण कारण है । सामग्री अथवा कारकसाकल्यके अन्तर्गत वे सभी कारण सम्मिलित हैं जो साधारण और असाधारण, व्यवहित और अव्यवहित दोनो हैं । ऐसी स्थितिमे सामग्री या कारकसाकल्यको प्रमाण मानना युक्तिसगत प्रतीत नही होता । ध्यान रहे कि इन्द्रियादि सामग्री ज्ञानकी उत्पत्तिमे तो साक्षात् कारण है, पर अर्थोपलब्धिरूप प्रमामे वह साक्षात् कारण नही है, परम्परा कारण है । साक्षात् कारण तो उसमें उक्त सामग्रीसे उत्पन्न हुआ एक मात्र ज्ञान ही है । अथवा, यो कहना चाहिए कि उक्त सामग्री मात्र ज्ञानको उत्पन्न करती है, वह सीधे अर्थोपलब्धिमें व्यापृत नही होती । अत उक्त सामग्री जब ज्ञानमे व्यवहित हो जाती है तो वह अर्थोपलब्धिमे अव्यवहित कारण—साधकतम नही कही जा सकती । यदि परम्परा कारणोको भी साधकतम (करण) माना जाय तो उनका न कोई प्रतिनियम रहेगा और न कही विराम ही होगा । अत कारकसाकल्य या सामग्री प्रमाणका स्वरूप नही है । नरेन्द्रसेनने अनेक विकल्प उठाकर इसकी विशद मीमासा की है ।

(ई) सन्निकर्ष-परीक्षा :

यौगोकी मान्यता है कि ज्ञाताका व्यापार, इन्द्रियोका व्यापार और कारकसाकल्य अर्थपरिच्छित्तिमे तबतक कुछ भी सक्रिय योगदान नही कर सकते, जबतक इन्द्रियोका योग्य देशमे स्थित अर्थके साथ सम्बन्ध न हो । इस सम्बन्धके होनेपर ही ज्ञाताको अर्थप्रमिति होती है । अत इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्धरूप सन्निकर्ष ही प्रमाण है, इन्द्रियव्यापारादि नही ।

---

१. द्रष्टव्य, प्रमेयक० मा० पृ० ८ ।

वात्स्यायन इतना और कहते हैं कि कभी-कभी ज्ञान भी प्रमितिजनक होता है और इसलिए वह भी प्रमाणकोटिमें सन्निविष्ट है।[1]

जैन नैयायिकोका विचार है[2] कि अर्थपरिच्छित्ति अज्ञान-निवृत्तिका ही दूसरा नाम है और इस अर्थपरिच्छित्तिरूप अज्ञान-निवृत्तिमें जो करण हो, उसे अज्ञान-विरोधी होना चाहिए और अज्ञानका विरोधी है ज्ञान। अत ज्ञान ही प्रमितिजनक होनेमे प्रमाण माना जाना चाहिए, सन्निकर्ष नही। स्पष्ट है कि इन्द्रिय और अर्थ दोनो जड—अचेतन है, अत उनका सम्बन्ध—सन्निकर्ष भी जड है और जड (अज्ञान) से अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रमिति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए सनिकर्षको प्रमाण मानना ठीक नही है। तात्पर्य यह कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष साक्षात्-प्रमामे साधकतम होनेवाले ज्ञानमें कारण है और इसलिए वह ज्ञानमे व्यवहित हो जानेके कारण मुख्य प्रमाण-की कोटिमें नही आ सकता। एक बात और है। वह यह कि ज्ञाताको[3] अर्थपरिच्छित्तिमें जिसकी साधकतमरूपसे अपेक्षा होती है वही प्रमाण होना चाहिए और वह साधकतमरूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान। सनिकर्षकी अपेक्षा तो केवल साधकरूपमें होती है, साधकतमरूपमे नही। तब, जो साधकतम नही, वह प्रमाण कैसे ?

दूसरे, सनिकर्षमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये लक्षणके तीनो दोष भी है। रूपकी तरह रसके साथ चक्षु सयुक्तसमवाय और रूपत्वकी तरह रसत्वके साथ चक्षु सयुक्तसमवेतसमवाय सनिकर्ष रहते हुए भी चक्षुके द्वारा रसप्रमिति और रसत्वप्रमिति उत्पन्न नही होती। अत सनिकर्ष अतिव्याप्त है। चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी होनेसे वह रूपका

---

१. 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञान प्रमिति, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।'—न्यायभा० १-१-२।

२ देखिए, प्रमेयक० मा० पृष्ठ १४।

३. 'प्रतिपत्तुरपेक्ष्यं यत् प्रमाण न तु पूर्वकम्।'—सिद्धिवि० १-३।

ज्ञान सनिकर्पके विना ही कराती है। इसलिए सनिकर्ष अव्याप्त भी है। यत सनिकर्ष अचेतन है अत. वह चेतनात्मक अज्ञान-निवृत्ति (प्रमा) को पैदा नही कर सकता और इसलिए सनिकर्ष असम्भवि भी है। जान पडता है कि सनिकर्पको प्रमितिजनक—प्रमाण माननेमें वात्स्यायनके सामने ये सब आपत्तियाँ रही हैं और इसलिए उन्होने ज्ञानको भी प्रमितिजनक स्वीकार किया है, पर वे सनिकर्षको प्रमाण माननेवाली पूर्व परम्पराको नही छोड सके। अस्तु।

(उ) प्रमाणका निर्दोष स्वरूप :

दर्शनशास्त्रके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें प्राय सभी दर्शनकारोने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है ? इसे सबने अलग-अलग वतलाया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि नैयायिक संनिकर्पसे अर्थ-ज्ञप्ति मानते हैं, अत. वे सनिकर्षको प्रमितिकरण वतलाते हैं। प्रभाकर ज्ञाताके व्यापारको, साख्य इन्द्रियवृत्तिको, जयन्त भट्ट कारकसाकल्यको और बौद्ध[1] सारूप्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शनमें स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमितिका करण वतलाया गया है[2]। इस प्रमाणप्रमेयकलिकामें इसीका समर्थन करते हुए उसे ही प्रमाणका निर्दोप लक्षण सिद्ध किया गया है तथा उसे स्वसंवेदी माननेमें मीमासकोंके द्वारा उठायी गयी 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' आपत्तिका भी सयुक्तिक परिहार किया है।

---

१. देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ २ का पादटिप्पण।

२. देखिए इसी पुस्तकके पृष्ठ १७ तथा १८ के पादटिप्पण। तथा विशेषके लिए न्यायदी० प्रस्तावना पृ० १२।

(ऊ) प्रमाणका फल :

अब ज्ञान-प्रमाणवादी जैनोके सामने प्रश्न आया कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो उसका फल क्या है, क्योंकि अर्थाधिगम प्रमाण-का फल है और उसे प्रमाण मान लेनेपर उसका अन्य फल सम्भव नही है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए जैन तार्किकोने कहा है[1] कि अर्थाधि-गम होनेपर ज्ञाताको उस ज्ञेय (अर्थ) मे प्रीति होती है और वह प्रीति उस (प्रमाण) का फल है। निश्चय ही यदि वह अर्थ ग्रहण करने योग्य होता है तो उसमें ज्ञाताकी उपादान-बुद्धि, छोडने योग्य होता है तो हेय-बुद्धि और उपेक्षणीय होता है तो उपेक्षा-बुद्धि होती है। अत ज्ञानको प्रमाण माननेपर उसका फल हान, उपादान और उपेक्षा है। यह उसका परम्परा फल है और साक्षात् फल उसका अज्ञान-नाश है। उस अर्थके विषयमें जो ज्ञाताको अन्धकार-सदृश अज्ञान होता है वह उस अर्थका ज्ञान होनेपर दूर हो जाता है। वात्स्यायनने भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार करते हुए उसका हान, उपादान और उपेक्षा-बुद्धि फल बतलाया है[2]।

(ए) प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनो रूपसे परिणमन करनेवाला स्वीकार किया गया है। अत एक प्रमाताकी अपेक्षा प्रमाण और फलमे अभेद तथा कार्य और कारणरूपसे पर्याय-भेद या करण और क्रियाका भेद होनेके कारण उनमे भेद माना गया है[3]। जिसे प्रमाण-ज्ञान होता है

---

१ देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ १८ का पादटिप्पण तथा सर्वार्थसि० १–१० की व्याख्या।

२ देखिए, न्यायभा० १-१-३। तथा इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ० १७ का टिप्पण।

३. (क) 'प्रमाणात्कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नं फलमिति।'—प्रमाणपरी० पृ० ७९-८०।

उमीका अज्ञान दूर होता है, वही अहितको छोडता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षणीयकी उपेक्षा करता है[1]। इस प्रकार एक अन्वयि आत्माकी दृष्टिसे प्रमाण और फलमें कथचित् अभेद है और प्रमाताका अर्थ-परिच्छित्तिमे माचकतम रूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप प्रमाण है तथा अर्थपरि-च्छित्तिरूप प्रमिति उसका फल है। अत इनमे पर्यायदृष्टिसे कथचित् भेद है[2]। यहाँ उल्लेखनीय है कि साख्य आदि, इन्द्रियवृत्ति आदिको प्रमाण और ज्ञानको उसका फल स्वीकार करके उन (प्रमाण तथा फल) में सर्वथा भेद ही मानते हैं और बौद्ध[3] (बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले सौत्रान्तिक एव ज्ञानमात्रको माननेवाले विज्ञानवादी क्रमशः) ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्यको और ज्ञानगत योग्यताको प्रमाण तथा विषया-धिगति एव स्वविित्तको फल मानकर उनमें सर्वथा अभेदका प्रतिपादन करते है। पर जैनदर्शनमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदको प्रतीतिबाधित बतलाकर अनेकान्तदृष्टिसे उनका कथन किया गया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। नरेन्द्रसेनने भी प्रमाण-फलके भेदाभेदकी चर्चा की है और उन्हे कथञ्चिद् भिन्न तथा कथञ्चिद् अभिन्न सिद्ध किया है।

(ऐ) ज्ञानके अनिवार्य कारण :

अब प्रश्न है कि ज्ञानके अनिवार्य कारण क्या है ओर वे कौन है ? इस सम्बन्धमें सभी तार्किकोने विचार किया है। बौद्ध अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके प्रति कारण मानते है। उनका कहना है कि सब ज्ञान चार

(ख) 'प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।'—परीक्षामु० ५-२।

१ 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः।'—परीक्षामु० ५-३।

२. देखिए, प्रमाणपरी० पृ० ७८।

३. देखिए, तत्त्वसं का १३४४।

प्रत्ययो (कारणो) से[1] उत्पन्न होते है। वे प्रत्यय ये है १. समनन्तर प्रत्यय, २. आधिपत्य प्रत्यय, ३ आलम्बन प्रत्यय और ४ सहकारि। प्रत्यय। पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियाँ आधिपत्य प्रत्यय कही जाती है। अर्थ (विपय) आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है। और आलोक आदि सहकारि प्रत्यय है। इस तरह बौद्धोने इन्द्रियोके अतिरिक्त अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके प्रति कारण माना है। अर्थकी कारणतापर तो यहाँ तक जोर दिया गया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे विपय (जान) भी नही कर सकता।[2]

बौद्धोके इस मन्तव्यपर जैन तार्किकोने पर्याप्त विचार किया है और कहा है कि अर्थ तथा आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे वे ज्ञानके कारण नही है। अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान या ज्ञानाभाव देखा जाता है और अर्थाभावमें केशोण्डुकादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोक के रहते हुए उलूकादि नक्तञ्चरोको ज्ञान नही होता तथा उसके अभावमे उन्हें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। अत. न अर्थ ज्ञानका कारण है और न आलोक। किन्तु इन्द्रिय और मन ये दोनो व्यस्त अथवा समस्त रूपमे आवरणक्षयोपशम (योग्यता) की अपेक्षा लेकर ज्ञानमें कारण है।[3] नरेन्द्रसेनने भी इन्द्रिय तथा मनको ही ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है और अर्थ तथा आलोकको ज्ञानका अनिवार्य कारण न होनेका प्रतिपादन किया है।

---

१ 'चत्वार· प्रत्यया हेतु[1] श्चालम्ब[2] नमनन्तरम्।[3]
तथैवाधिप[4] तेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चम ॥'

—माध्यमिकका० १–२।

तथा देखिए, अभिधर्मकोश परि० २, श्लो० ६१–६४।

२ 'नाकारण विपय·' इति।

३ लघीयस्त्रय का० ५७, ५८ तथा उसकी वृत्ति।

साथ ही बौद्धोंकी इस आपत्तिका भी, कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, परिहार किया है और आ० माणिक्यनन्दिकी तरह लिखा है कि जिस प्रकार दीपक अर्थसे उत्पन्न न होकर भी उसे प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न होकर योग्यता के बलसे उसका प्रकाशन करता है।

इस तरह इस प्रमाणतत्त्व-परीक्षा प्रकरणमें अन्य प्रमाण-लक्षणोंकी मीमांसा करते हुए प्रमाणका निर्दोष स्वरूप, प्रमाणका फल और प्रमाणके कारणोंकी चर्चा की गयी है। यद्यपि ग्रन्थकर्ताने प्रमाणके भेदोंको भी बतलानेका आरम्भमें संकेत किया है किन्तु उनपर उन्होंने कोई विचार नहीं किया। जान पड़ता है कि उनकी दृष्टिमें प्रमाण और प्रमेयका मात्र स्वरूप बतलाना ही मुख्य रहा है और इसलिए उन्हींपर इसमें विचार किया गया है।

४ प्रमेयतत्त्व-परीक्षा :

अब प्रमेय-तत्त्वपर विचार किया जाता है। जो प्रमाणके द्वारा जाना जाये वह प्रमेय है। अर्थात् प्रमाण जिसे जानता है वह प्रमेय कहलाता है। प्रमेयके इस सामान्य स्वरूपमें किसी भी तार्किकको विवाद नहीं है। विवाद सिर्फ उसके विशेष स्वरूपमें है। सांख्य प्रमाणके द्वारा प्रमीयमाण उस प्रमेय का विशेष स्वरूप सामान्य (प्रधान-प्रकृति) बतलाते हैं। बौद्ध उसे विशेष (स्वलक्षण) रूप मानते हैं। वैशेषिक सामान्य और विशेष दोनों परस्पर-निरपेक्ष—स्वतन्त्रको प्रमाणका विषय प्रतिपादन करते हैं तथा वेदान्ती परमपुरुषरूप प्रमेयका कथन करते हैं। प्रस्तुतमें विचारणीय है कि प्रमाणके द्वारा जानी जानेवाली वस्तु यथार्थतः कैसी है ? प्रमेयका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यहाँ पहले प्रमेयस्वरूप-विषयक उन सभी मान्यताओंको दिया जाता है, जिनकी इस पुस्तकमें चर्चा की गयी है और बादको प्रमेयका वह स्वरूप दिया जावेगा, जिसे जैन तार्किकोंने प्रस्तुत किया है।

(अ) सामान्य-परीक्षा :

सामान्यवादी सांख्योंका पूर्वपक्ष

साख्योका मत है कि प्रमाण तीन प्रकारका है[1]—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान और ३ आप्तश्रुति (आगम)। इन तीनों प्रमाणोका विषय चार तरहका अर्थ है, जो साख्योके शास्त्रमें वर्णित है।[2] कोई प्रकृति ही है, कोई विकृति ही है, कोई प्रकृति और विकृति दोनोरूप है, तथा कोई अनुभयरूप है—न प्रकृति है और न विकृति है। इनमें मूलप्रकृति प्रकृति ही है—समस्त कार्य-समूहकी मूलकारण है और जो विकृति नही है—जिसका अन्य कोई कारण नही है। इस मूलप्रकृतिको प्रधान, वहुधानक और सत्त्वरजस्तमकी साम्यावस्था भी कहा गया है। महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनो है। प्रकृति-से उनकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वे विकृति है और इन्द्रियादि सोलहके गणको वे उत्पन्न करते है, इसलिए वे प्रकृति भी है। सोलहका समूह सिर्फ विकृति है। अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पांच भूत ये सोलह केवल दूसरोसे उत्पन्न होते हैं, किसी अन्यको उत्पन्न नही करते। पुरुप न प्रकृति है और न विकृति। वह न किसीको उत्पन्न करता है और न किसीसे उत्पन्न होता है। अतः वह अनुभयरूप है। इस तरह इन चार

---

१ 'इष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्व-प्रमाण-सिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥'

—सांख्यका० ४।

२ 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृति-विकृतय· सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष ॥'

—साख्यका० ३

'संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधा। कश्चिदर्थ प्रकृतिरेव कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृति, कश्चिदनुभयरूप।'

—सांख्यतत्त्व० पृ० १४।

अर्थसमूहोंमें वे पच्चीस तत्त्व आ जाते हैं जिनका सांख्य-शास्त्रमें[1] निम्न प्रकार प्रतिपादन किया गया है -

प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी, महान्से अहङ्कारकी, अहङ्कारसे सोलह (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एक मन और पाँच तन्मात्राओं) की और सोलहमें आयी हुई पाँच तन्मात्राओंसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है। ये चौवीस तत्त्व हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है जो निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य, व्यापक और ज्ञानादि परिणामोंसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुष-तत्त्व अनेक है और सबकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति परिणामी-नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है[2]। कारणरूप प्रकृति 'अव्यक्त' कही जाती है और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य-रूप परिणाम—महदादि 'व्यक्त' कहे जाते हैं। इस तरह सांख्योंने प्रकृति अथवा प्रधानपर, जो सामान्यरूप है, अधिक बल दिया है, और इस लिए इनका यह प्रकृतिवाद सामान्यवाद कहा गया है। पुरुषको सांख्य मानते अवश्य हैं, पर वह पुष्कर-पलाशके समान निर्लेप है। उसे न बन्ध होता है और न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृतिको ही होते हैं[3]। हाँ, प्रकृतिके

१. 'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥'
—सांख्यका० २२।

२ 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥'
—सांख्यका० ११।

३. 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥'
—सांख्यका० ६२।

द्वारा सम्पादित भोगका वह मात्र भोक्ता है। ज्ञान पुरुषका धर्म न होकर प्रकृतिका धर्म (परिणाम) है। और चैतन्य ज्ञानसे भिन्न पुरुषका स्वरूप है। वुद्धिरूप दर्पणमे[1] इन्द्रिय-विपयो और पुरुषका प्रतिविम्व पडता है। यह प्रतिविम्व ही भोग है और उसीका पुरुष भोक्ता है। प्रकृतिको जव यह ज्ञान हो जाता है कि 'इस पुरुषको तत्त्वाभ्याससे[2] "मै प्रकृतिका नही हूँ और प्रकृति मेरी नही है" इस प्रकारका विवेक हो गया है और उसे मुझसे विरक्ति हो गई है,' तव वह उसका ससर्ग उसी प्रकार छोड देती है, जिस प्रकार नर्तकी दर्शकोको अपना नृत्य दिखाकर नृत्यसे विरत हो जाती है[3]। फिर कैवल्य हो जाता है और प्रकृतिसे उस पुरुषका सदाके लिए ससर्ग छूट जाता है। इस प्रकार सारा खेल इस प्रकृतिका है।

जैन विचारकोने साख्योकी इस तत्त्व-व्यवस्थापर गहराईसे विचार किया है और उसमें उन्हें अनेक दोप जान पडे है। पहली वात तो यह है कि

जैनों द्वारा सांख्योंके सामान्यवादपर विचार

प्रधानका जैसा स्वरूप ऊपर दिखाया गया है वह न अनुभवमें आता है और न अनुमानादि प्रमाणसे सिद्ध है। प्रकृति जव जड है तव उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण कैसे सम्भव है ? घट, पट आदि किसी भी अचेतनमें उनका सद्भाव नही देखा जाता और जव

१ 'वुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिविम्वसंक्रान्तिरेव वुद्धिप्रतिसवेदित्वं पुस'। तथा च दृशिच्छायापन्नया वुद्ध्या संसृष्टा· शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थ.।'—योगसू० तत्त्ववै० २–२०।

२ 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥'
—साख्यका० ६४।

३ 'रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति ॥'
—सांख्यका० ५९।

उनमें उनका सद्भाव नही है तब उनके कारण—प्रधानमें इन सत्त्वादि गुणोका अस्तित्व असम्भव है। चेतन आत्मामे ही वे पाये जाते है। और तो क्या, इन तीनो गुणोके कार्य, जो प्रसाद, प्रकाश, ताप, राग, द्वेष, मोह, शोप, सुख, दु ख आदि वतलाये गये है वे भी चेतन आत्माओमे ही देखे जाते हैं, किसी अचेतनमे नही।

दूसरे, पृथिवी आदि मूर्तिक है और आकाश अमूर्तिक है, ये परस्पर-विरोधी कार्य एक ही कारण (प्रधान) से कैसे उत्पन्न हो सकते है[1]।

तीसरे, प्रधानसे महान्, अहकार आदि जिन तत्त्वोकी उत्पत्ति कही गयी है उनमे महान् तत्त्व तो वुद्धिरूप है और शेप सब अवुद्धिरूप है, ये सब विजातीय तत्त्व भी उसी एक कारणसे पैदा नही हो सकते। अन्यथा[2], अचेतन पञ्चभूत समुदायसे चैतन्यकी उत्पत्ति भी क्यो नही मानी जाय और उस हालतमे चार्वाकोका मत सिद्ध होगा, सांख्योका नही। वस्तुत वुद्धि, जिसका काम जानना है, चेतन आत्माका ही परिणाम है, वह प्रधानका, जो सर्वथा अचेतन एवं जड है, परिणाम नही है।

कहा जा सकता है[3] कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपने स्वामीको

---

१ 'अमूर्त्तस्याकाशस्य मूर्त्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकत्वायोगात्।' प्रमेयरत्न० पृ० १५२।

२ 'अन्यथा, अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकाच्चैतन्यसिद्धेश्चार्वाकमतसिद्धिप्रसगात् सांख्यगन्ध एव न भवेत्।' –प्रमेयरत्न० पृ० १५२।

३. 'एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतो ? स्वामिनं प्रति तस्या. सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दु खाकरोति, तत्कस्य हेतो ? ता. प्रति तस्या दु खरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तर तामविन्दमान सैव मोहयति, तत्कस्य हेतो ? तत्प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। अनया स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याता।' —सांख्यतत्त्व० पृ० ८१।

सुखी करती है, क्योंकि वह उसके प्रति सुखरूप है। अपनी सौतोको दु:ख उत्पन्न करती है, क्योंकि उनके लिए वह दु खरूप है और दूसरे पुरुषोको वह मोहित करती है, क्योंकि उनके प्रति वह मोहरूप है। उसी तरह प्रकृति भी परस्पर-विरोधी सुख, दु ख और मोहरूप परिणमनोको पुरुषमे उत्पन्न करती है और इसलिए प्रकृतिसे उक्त प्रकारके कार्योंके माननेमे कोई असगति नहीं है। यह कथन भी युक्त प्रतीत नही होता, क्योंकि स्त्रीका उदाहरण विषम है। स्त्री चेतन है, और प्रकृति अचेतन। अत स्त्रीको तो सुखादिरूप मानना उचित है, पर प्रकृतिको सुखादिरूप मानना उचित नही है। और इसलिए सुखादि-परिणाम-रहित अचेतन प्रकृति उन सुख-दु ख-मोहादि-चेतन-परिणामोका उपादान नहीं हो सकती। चेतन-परिणामोका उपादान चेतन ही हो सकता है। वास्तवमे सुख, दु ख, मोह आदि अन्तस्तत्त्वके ही परिणाम हैं, जडके नही[1]। यदि कहा जाय कि सुखादि परिणाम अन्तस्तत्त्वके नही है, किन्तु वे प्रधानके हैं, प्रधानके ससर्गसे वे अन्तस्तत्त्वके मालूम पडने लगते हैं, तो यह कथन भी बुद्धिको नही लगता, क्योंकि ससर्गसे यदि किसी वस्तु या वस्तु-धर्मकी व्यवस्था की जाये तो न किसी वस्तुकी और न उसके अपने किसी धर्मकी स्वतन्त्र व्यवस्था हो सकेगी[2]। अत प्रतीतिके अनुसार वस्तु-व्यवस्था होनी चाहिए।

चौथे, यदि प्रकृतिको ही बन्ध और मोक्ष होते हैं तो पुरुषकी कल्पना व्यर्थ है[3]। भोक्ताके रूपमें उसकी कल्पना भी युक्त नही है, क्योंकि बुद्धिमे

---

१ 'सुख-दुख-मोहरूपतया घटादेरन्वयाभावादन्तस्तत्त्वस्यैव तथोपलम्भात्।'—प्रमेयर० पृ० १५०।

२. 'संसर्गादविभागश्चेदयोगोलकवह्निवत्।
भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु॥'
—प्रमेयरत्न० पृ० १५१।

२. 'तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फल पुमान्।

इन्द्रिय-विषयकी छाया पडनेपर भी अपरिणामी पुरुषमे भोक्तृत्वरूप परिणमन नही हो सकता। तथा पुरुष जब सर्वथा निष्क्रिय एव अकर्ता है तो वह भुजि-क्रियाका भी कर्ता नही बन सकता और तब वह 'भोक्ता' नही कहा जा सकता। कितने आश्चर्य तथा लोकप्रतीतिके विरुद्ध बात है कि जो (प्रधान) कर्ता है वह भोक्ता नही है और जो (पुरुष) भोक्ता है वह कर्ता नही है। जबकि यह लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'जो करेगा वह भोगेगा।' जो प्रधान ज्ञान-परिणामका आधार नही देखा जाता, उसे उसका आधार माना जाता है और जो पुरुष 'ज्ञानस्वरूप स्वार्थव्यवसायी' देखने में आता है उसका निरास किया जाता है,[1] यह कैसी विचित्र बात है। ऐसी मान्यताओंको प्रेक्षावानोंने 'दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना पापीयसी' कहकर उन्हें अश्रेयस्कर बतलाया है। इससे भी बढकर आश्चर्य तब होता है जब प्रधानको मोक्षमार्गका उपदेशक कहा जाता है और स्तुति (पूजा-भक्ति-नमन) मुमुक्षु पुरुषकी करते है।[2]

पाँचवें, पुरुषमें यदि स्वय रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता और प्रवृत्ति न हो, तो प्रकृति-ससर्ग उसमे बलात् रागादि पैदा नही कर

भोक्ताऽऽत्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधत.॥
विरोधे तु तयोर्भोक्तु. स्याद्भुजौ कर्तृता कथम्।'

—आप्तप० का० ८१, ८२।

१. 'ज्ञानपरिणामाश्रयस्य प्रधानस्यादृष्टस्यापि परिकल्पनायां ज्ञानात्मकस्य च पुरुषस्य स्वार्थव्यवसायिनो दृष्टस्य हानिः पापीयसी स्यात्। "दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी" इति सकलप्रेक्षावतामभ्युपगमनीयत्वात्।'—आप्तप० पृ० १८६।

२. 'प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ, स्तूयते पुमान्।
मुमुक्षुभिरिति, ब्रूयात्कोऽन्योऽकिञ्चित्करात्मनः॥'

—आप्तप० का० ८३।

सकता। नर्तकी उन्ही पुरुषोमे राग या विराग पैदा करती है जिनमे उसके प्रति राग या विराग भाव होता है। किसी घडे या लकडीमे वह राग-विराग भाव उत्पन्न नही करती। इससे स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमे राग या विराग भावरूप होनेकी योग्यता न होगी, तबतक प्रकृति-ससर्ग उसमे न अनुराग पैदा कर सकता है और न विराग। अन्यथा, मुक्त अवस्थामे प्रकृति-ससर्ग रहनेसे मुक्तोके भी रागादि विकार उत्पन्न होना चाहिए। प्रधानका[1] मुक्तके प्रति निवृत्ताधिकार और ससारी आत्माके प्रति प्रवृत्ताधिकार मानकर भी उक्त दोषका निराकरण नही किया जा सकता है, क्योकि प्रधानको निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थ इसलिए कहा जाता है कि पुरुष प्रकृतिका ससर्ग छूट जानेपर ससारमे ससरण नही करता और उसका ससर्ग रहनेपर वह संसारमे प्रवृत्त होता है। वास्तवमे निवृत्तार्थ और और प्रवृत्तार्थका व्यवहार पुरुषकी ओरसे है, प्रकृतिकी ओरसे नही। इसके अतिरिक्त प्रधानमे विरोधी धर्मोका अध्यास होनेसे वह एक और निरश नही बन सकता।

छठे, अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'पुरुषको विवेक उत्पन्न हो गया है और वह मुझसे विरक्त हो गया है?' वास्तवमे पुरुष ही प्रकृतिसे ससर्ग करनेकी इच्छा करता है और विवेक होनेपर वह उससे छूटनेके लिए छटपटाता है। अत पुरुषको ही परिणामि-नित्य तथा ज्ञान-स्वभाववाला मानना चाहिए और उसीको बन्ध एव मोक्षका वास्तविक अधिकारी स्वीकार करना चाहिए।

सातवें, अन्ध और पगुके उदाहरण-द्वारा प्रकृति और पुरुषमे ससर्गकी कल्पना करके उससे जो पुरुषके दर्शन तथा प्रधानके कैवल्य एव सर्गोत्पत्ति

---

१. 'केवलं मुक्तात्मानं प्रति नष्टमपीतरात्मानं प्रत्यनष्टं निवृत्ताधिकारत्वात् प्रवृत्ताधिकारत्वाच्चेति, न, विरुद्धधर्माध्यासस्य तदवस्थत्वात्प्रधानस्य भेदानिवृत्ते।'—आप्तप० पृ० १५९।

का कथन किया जाता है वह[1] भी आपातरम्य प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार अन्धा और पगु दोनोमे परस्पर मिलनेकी इच्छा तथा उस प्रकारकी प्रवृत्ति होनेपर उनका सम्बन्ध (मिलन) होता है उसी तरह जबतक पुरुष और प्रकृति दोनोमे ससर्गकी इच्छा और स्वतन्त्र परिणमनकी योग्यता नही होगी, तबतक उनमे न संसर्ग सम्भव है और न दर्शन, कैवल्य और सृष्टि ही। ये दोनो परस्पर विजातीय हैं और इसलिए वे एक दूसरेके परिणमनमें उपादान नही हो सकते।

साख्योका यह मत सामान्यैकान्त, नित्यत्वैकान्त या सामान्यवादके रूपमे प्रसिद्ध है, क्योंकि प्रकृतिको उन्होंने सर्वथा एक, नित्य, व्यापक, सामान्य और निरवयव तत्त्व माना है और उसे ही आविर्भाव, तिरोभाव, मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विरोधी परिणमनोका सामान्य आधार स्वीकार किया है[2]। परन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि वह न अनुभव-सिद्ध है और न अनुमानादि-प्रमाण-सिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थमें नरेन्द्रसेनने साख्योके इस विशेष-निरपेक्ष सामान्यैकान्त अथवा सामान्यवादकी आलोचना करते हुए 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।' कुमारिल भट्टकी इस युक्ति और दूसरे अनेक तर्कों-द्वारा उसका निराकरण किया है। उन्होंने लिखा है कि विशेप-रहित अकेला सामान्य कही भी उपलब्ध नही होता और वह उसी तरह अवस्तु है, जिस तरह केवल सामान्य-रहित विशेप या स्वतन्त्र दोनो। और इसलिए सामान्य-विशेपात्मक अनेकान्त—अर्थ प्रमेय है—प्रमाण-विषय है[3]।

---

१ 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥'

—सांख्यका० २१।

२ आप्तमी० का० ३६–४० तथा जैनदर्शन पृ० ४६१।

३. 'सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषय'। —परीक्षामु० ४—१।

(आ) विशेष-परीक्षा :

विशेषवादी बौद्धोंका पूर्व पक्ष

बौद्धोका कहना है कि एक, नित्य, व्यापक और परमार्थसत् सामान्य, चाहे वह प्रधानरूप हो, या परमपुरुषरूप, हमे प्रत्यक्षसे प्रतीत नही होता। जो प्रतीत होते है वे है विशेष—एक-एक, पृथक्-पृथक् अनेक और अनित्य व्यक्तियाँ। हम स्पष्ट देखते हैं कि कोई घट है, कोई पट है, कोई पुस्तक है, कोई लकडी है, कोई पत्थर है, कोई गाय है, कोई आदमी है, इस तरह ससारकी सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् व्यक्तिरूपमे ही प्रतीत होती है। 'जो जहाँ और जिस कालमे है वह वही और उसी कालमे पाया जाता है, अन्य देश या अन्य कालमें नही। और इसलिए दो भिन्न देशो और दो भिन्न कालोमे व्यापक कोई भी पदार्थ नही है[1]।' यदि भिन्न देशो और भिन्न कालोमे रहनेवाला एक सामान्य पदार्थ माना जाय तो यह बताये कि वह सामान्य प्रत्येक व्यक्तिमें पूर्णरूपसे रहता है अथवा आशिक ? यदि पूर्णरूपसे रहता है, तो या तो दूसरे अन्य व्यक्तियोमें उसका अभाव मानना पडेगा, या व्यक्तियोकी तरह उसे भी अनन्त मानना होगा। यदि वह उनमें आशिक रूपसे रहता है तो वह निरश और नित्य नही रहेगा। अत बुद्ध्यभेदको छोडकर भिन्न सामान्य नही है[2]। यह बुद्ध्यभेद भी अन्यापोहरूप है। अगोव्यावृत्तिसे गौका व्यवहार, अघटव्यावृत्तिसे घटका व्यवहार और अपट-व्यावृत्तिसे पटका व्यवहार होता है। गोत्व, घटत्व, पटत्व आदिरूप सामान्यकी अपेक्षासे नही।

ये विशेष ही स्वलक्षण हैं, जो चित्त और अचित्त दोनो रूप है तथा

---

१. 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव स.।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥'

२ 'एकत्र दृष्टो भावो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते।
तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्य बुद्ध्यभेदत: ॥'

उदरमे समा जायेगे। यदि एक देशसे वह ससर्ग हो तो छह दिशाओसे छह परमाणुओ-द्वारा एक परमाणुके साथ सम्बन्ध होनेपर उस परमाणुके छह अश कल्पना करना पडेगे। अत केवल असंसृष्ट परमाणु-पुञ्ज ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय है। अवयवी या स्कन्धादि नही।

यह परमाणु-पुञ्ज क्षणिक है, क्योकि अर्थक्रिया वस्तुका लक्षण है और यह जिसमें सम्भव है वही परमार्थसत् है। यतः नित्य और एकरस वस्तुमे यह अर्थक्रिया न तो क्रमसे सम्भव है और न युगपत्। अत अर्थक्रियाके न बन सकनेके कारण कोई भी वस्तु नित्य और एकस्वभाव नही है, अपितु क्षणिक और नानास्वभाव है। तथा अपनी सामग्रीके अनुसार कार्योत्पादक है।

साख्योने जिस तरह जीव या चेतनको 'पुरुष' नाम दिया है और उसे अपरिणामी नित्य स्वीकार किया है, ठीक इसके विपरीत बौद्धोने 'जीव' को 'चित्त' कहा है और उसे प्रतिक्षण विनश्वर एवं नानाक्षणात्मक माना है। ये चित्तक्षण परस्पर भिन्न हैं। उनमें इतना ही सम्बन्ध है कि पूर्व चित्तक्षण कारण है और उत्तर चित्तक्षण कार्य है। इनकी सन्तति अथवा धाराका प्रवाह अनवरत चालू रहता है। और तो क्या, चित्तक्षणोकी यह परम्परा निर्वाण अवस्थामें भी विद्यमान रहती है। अन्तर इतना ही है कि संसार अवस्थामें वह सास्रव रहती है और निर्वाणमे वह निरास्रव हो जाती है। इस तरह सास्रव चित्तसन्तति संसार है और निरास्रव चित्तसन्तति मोक्ष है। प्रदीपके निर्वाणकी तरह चित्तका निर्वाण होता है।

वस्तुको सर्वथा भेदरूप स्वीकार करनेसे बौद्धोका यह मत विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अनित्यत्वैकान्त और विशेषवादके रूपमें प्रख्यात है।

जैन दार्शनिकोने बौद्धोके इस मतपर पर्याप्त और विस्तृत ऊहापोह किया है और उन्हें यह मत भी दोषपूर्ण प्रतीत हुआ है। जैसा कि हम

जैनोका उत्तर पक्ष

साख्य-मतकी मीमासामे देख चुके हैं कि वस्तु न सर्वथा एक है और न सर्वथा नित्य है उसी तरह वह न सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक है और न सर्वथा क्षणिक ही प्रतीत

होती है। 'रत्नावली' का एक-एक मणि यदि सर्वथा अलग-अलग हो और उनमे अनस्यूतरूपमें सूतका सम्बन्ध न हो तो उन्हें 'रत्नावली' (माला या हार) नही कहा जा सकता।[1] उसी तरह एक-एक क्षण अलग-अलग हो और उनमें अन्वयि द्रव्य न हो तो उन्हें 'वस्तु' संज्ञा प्राप्त नही हो सकती। सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, प्रेत्यभाव ये सब एकत्व (द्रव्य) के अभावमे सम्भव नही हैं।[2] क्षणोमें जब एकत्वान्वय सर्वथा है ही नही, तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, दत्तग्रहादिव्यवहार, स्वपति, स्वजाया आदि व्यपदेश उनमें कैसे बन सकते हैं?[3] जिस चित्तक्षणने किसी चित्तक्षणको कुछ उधार दिया था वह तो नष्ट हो गया, दिये हुएका वापिसी ग्रहण कौन करेगा? जिस पतिके

---

१. 'जहऽणेय-लक्खण-गुणा वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता।
रयणावलि-ववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥
जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिवद्धा।
'रयणावलि' त्ति भण्णइ जहंति पडिक्सण्णाउ ॥
तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दंसणसद्दं लहंति ण विसेससण्णाओ ॥'

—सन्मति० १–२२, २४, २५।

तथा इसीके लिए देखिए, वरांगचरित २६–६१, ६२, ६३।

२. 'सन्तान. समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुश।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥'

—आप्तमी० का० २९।

३. 'प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृ-घाती स्वपतिः स्वजाया।
दत्तग्रहो नाधिगत-स्मृतिर्न न क्त्वार्थसत्य न कुलं न जाति ॥'

—युक्त्यनु० का० १६।

तथा देखिए, आप्तमी० का० ४१ और युक्त्यनु० का० ११, १२, १३, १४, १५, १७।

साथ स्त्रीका और जिस स्त्रीके साथ पुरुषका वैवाहिक सम्बन्ध हुआ था, उनका द्वितीय क्षणमे अभाव हो जानेसे न तो स्त्री 'यह मेरा पति है' और न पुरुष 'यह मेरी स्त्री है' का व्यपदेश कर सकेंगे।

इस क्षणिकवादमे सबसे बडा दोष यह है कि निरन्वय नाशशील क्षणोंमें कार्यकारणभाव भी नही बनता है। कारण उसे माना जाता है जिसके होनेपर कार्य उत्पन्न होता है और कार्य वह कहा जाता है जो कारणव्यापारके बाद पैदा होता है। बौद्ध पूर्वक्षणको कारण और उत्तर-क्षणको कार्य मानते हैं। परन्तु पूर्वक्षण जबतक रहता है तबतक उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं होता। पूर्वक्षणके निरन्वय विनष्ट हो जानेपर ही उत्तरक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट पूर्वक्षण कारण हो नहीं सकता, क्योकि वह है ही नहीं, चिरतर अतीत क्षणोमे जैसे कारणता नही है।[1] इसी तरह उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य नही हो सकता, क्योकि वह असत् है। अन्यथा, आकाशपुष्प, खरविषाण आदि असतोकी भी उत्पत्तिका प्रसङ्ग आवेगा। दूसरे, कार्यको असत् होनेपर उपादानका नियम नही बन सकता। जिस किसी अभावसे जिस किसी भी कार्यकी उत्पत्ति होने लगेगी[2]।

क्षणिकवादमें हिंसा, हिंसा-फल, हिंस्य, हिंसक, बन्ध, मोक्ष और आचार्य-

---

१ 'निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासम्भवात। तथा हि—न विनष्टं कारणम्, असत्त्वात्, चिरतरातीतवत्। न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सो पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्व समनन्तरत्व वा, नित्यवत्। ...' —अष्टस० पृ० १८२ तथा आप्तमी० का० ४३।

२ 'यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियमोऽभून्माऽऽश्वास. कार्यजन्मनि ॥'
—आप्तमी० का० ४२।

शिष्य आदिकी भी व्यवस्था नही वनती है[1]। जिस चित्तक्षणने हिंसाका अभिप्राय किया, उसने हिंसा नही की, किसी दूसरे ही चिन्तक्षणने हिंसा की और जिसने हिंसा की उसे हिंसाका फल प्राप्त नही हुआ, किसी तीसरे चित्तक्षणको ही वह प्राप्त हुआ। इस तरह वस्तुको सर्वथा क्षणिक माननेमे 'हिंसा करनेवालेको ही हिंसा-फल प्राप्त होनेका' लोक-विश्रुत नियम नही वन सकता है। दूसरे, प्राणनाशका नाम हिंसा है और नाशको अहेतुक स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थितिमे किसीको हिंसक और किसीको हिंस्य नही माना जा सकता है। इसी तरह एक ही चित्तक्षणके वन्ध तथा मोक्ष भी नही वनते हैं। आचार्य और शिष्यका सम्वन्ध भी क्षणिकवादमें असम्भव है[2]। प्रथम क्षणमे जिस चित्तक्षणने किसीसे पढा वह द्वितीय क्षणमें निरन्वय विनष्ट हो जानेसे न शिष्य बन सकेगा और न पढानेवाला उसका आचार्य हो सकेगा। इस तरह क्षणिकवादमें कोई भी तत्त्व-व्यवस्था उपपन्न नही होती।

जिन वहिरर्थ-परमाणुओ अथवा संवित्परमाणुओको विशेष एव स्वलक्षण कहा गया है वे न प्रत्यक्षसे सिद्ध है और न अनुमानादिसे प्रतीत होते हैं। स्थिर, स्थूलादि, नित्यानित्य और द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु ही प्रत्यक्षादिसे प्रतीत होती है। सामान्य-निरपेक्ष विशेष कही भी दृष्टिगोचर नही होता। वृक्षत्वसहित शिशपादि व्यक्तियो एवं गोत्वादिसहित खण्ड-मुण्डादि गवादि

---

१ 'हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसन्धिमत्।
बद्ध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥
अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥'

—आप्तमी० का० ५१,५२

२ 'न शास्तृ-शिष्यादि-विधिव्यवस्था ।'

—युक्त्यनु० का० १७।

व्यक्तियोंका हमें भान होता है। नरेन्द्रसेनने बौद्धोंके इस विशेपवादकी सवलताके साथ आलोचना की है और कुमारिलकी 'सामान्यरहितत्वेन विशेपास्तद्वदेव हि' इस युक्तिद्वारा उसे खरविणाणकी तरह अवस्तु सिद्ध किया है। अत बौद्ध-परिकल्पित विशेप भी प्रमेय अर्थात् प्रमाण-विपय नही है। प्रमाणका विपय सामान्य-विशेपात्मक वस्तु है।

(इ) सामान्यविशेपोभय-परीक्षा :

वैशेपिकोकी मान्यता है कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेप प्रमाण-का विपय—प्रमेय—वस्तु नही है, किन्तु दोनो स्वतन्त्र—परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेप प्रमाणका विपय अर्थात् वस्तु है। उनका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह ही भाव पदार्थ[1] है और ये एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न है,

सामान्यविशेपोभयवादी वैशेपिकोंका पूर्व पक्ष

क्योकि इनका अलग-अलग प्रत्यय होता है। 'द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय होनेसे द्रव्य-पदार्थ, 'गुण' ऐसी प्रतीति होनेसे गुण-पदार्थ, 'कर्म' ऐसा ज्ञान होने से कर्म-पदार्थ, 'सामान्यम्' इस प्रत्ययसे सामान्य-पदार्थ, 'विशेप' इस प्रत्ययसे विशेष-पदार्थ और 'इहेदम्'—'इसमे यह' इस प्रकारके प्रत्ययसे समवाय-पदार्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रत्ययभेदके अतिरिक्त सवका लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। द्रव्य उसे कहा गया है जो गुणवाला, क्रियावाला और सम-वायिकारण है। गुण वह है जो द्रव्यके आश्रय रहता है और स्वय निर्गुण एव निष्क्रिय है। उत्क्षेपणादि परिस्पन्दनरूप क्रियाका नाम कर्म है। अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाला सामान्य है। नित्य द्रव्योमें रहने वाला तथा उनमें

---

१ 'अभाव' नामका एक सातवाँ पदार्थ भी वैशेपिकोंने स्वीकार किया है, किन्तु उसका ज्ञान नि श्रेयसका कारण न होनेसे उसे न सामान्यकी सञ्ज्ञा प्राप्त है और न विशेषकी। अत उसका उल्लेख अप्रासङ्गिक है।

परस्पर भेद-व्यवहार करानेवाला विशेष है। और अयुतसिद्धोमे होने वाले सम्बन्धका नाम समवाय है। इसी तरह सबके कारण भिन्न है, अर्थक्रिया सबकी जुदी है और कार्य भी सबके अलग-अलग हैं। अत. ये छह ही पदार्थ हैं और परस्पर सर्वथा भिन्न है।

इन छह पदार्थोंमे द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ व्यक्ति—विशेष रूप है। सामान्य स्वयं सामान्य (जाति) रूप है। अन्य दर्शनोमें अस्वीकृत एव इस वैशेपिक दर्शनमे स्वीकृत विशेप विशेषरूप है ही और समवाय इन सबके सम्बन्धका स्थापक है। इस तरह वैशेपिकोके ये छह पदार्थ सामान्य और विशेपरूप होनेके कारण उन्हे सामान्य-विशेपोभयवादी तथा उनके इस वादको सामान्यविशेपोभयवाद कहा गया है।

जैन दर्शनमे उनके इस स्वतन्त्र सामान्यविशेपोभयवादपर सभी जैन दार्शनिक लेखकोने विचार किया है और उन्हे इसमे भी दोष जान पडे हैं।

जैनोंका उत्तर पक्ष

पहली बात तो यह है कि जो दोष एकान्तत. सामान्यवाद और विशेषवादके स्वीकार करनेमे दिये गये हैं वे सब स्वतन्त्र उभयवादके माननेमे भी प्राप्त है।

दूसरे, सब प्रकारसे वस्तुको सामान्यरूप मान लेनेपर फिर वह सब प्रकारसे विशेपरूप स्वीकार नही की जा सकती और सब प्रकारसे विशेष रूप स्वीकर कर लेनेपर वह सर्वथा सामान्यरूप नही मानी जा सकती और इस तरह स्वतन्त्र उभयवाद व्यवस्थित नही होता।

तीसरे, प्रत्ययभेदसे यदि पदार्थभेद स्वीकार किया जाय तो 'घट, पट, कट' इत्यादि अनन्त प्रत्यय होनेसे घटपटादिको भी पृथक्-पृथक् अनन्त पदार्थ मानना पडेगा। अत प्रत्ययभेद पदार्थ-भेदका नियामक नही है। जो अपने अस्तित्वको दूसरेमे नही मिलाता, दूसरेके आश्रित नही रहता और स्वतन्त्र है वही स्वतन्त्र और भिन्न पदार्थ मानने योग्य है। यथार्थमें गुण-कर्मादि द्रव्यके विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र है, वे स्वतन्त्र पदार्थ नही है। वे द्रव्यके साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्यको छोडकर नही और

इसलिए वे द्रव्यके आश्रित है और द्रव्यके परतन्त्र हैं। पदार्थ तो ठोस और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है। यदि गुण-कर्मादि द्रव्यसे भिन्न पदार्थ हो तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुण'—'इस द्रव्यका यह गुण है' इत्यादि व्यपदेश नही हो सकता, क्योकि उनका कोई नियामक नही है। समवाय व्यापक और नित्य है। वह भी उनका नियमन नही कर सकता। अन्यथा, जिस प्रकार महेश्वरमें ज्ञानका समवाय है उसी तरह आकाशमे उस (ज्ञान)का समवाय क्यो न हो जाय। अपि च, द्रव्य और गुण जब सर्वथा स्वतत्र एव भिन्न हैं तो उनमें समवाय कैसे हो सकता है—उनमें तो संयोग ही सम्भव है।

यदि कहा जाय कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध है। अत उनमे समवाय ही सम्भव है, सयोग नही। संयोग तो युतसिद्धोमे होता है। तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि तब यह प्रश्न उपस्थित होता हैं कि अयुतसिद्धत्व क्या है? क्या अपृथक्सिद्धत्वका नाम अयुतसिद्धत्व है? या पृथक्करणकी अशक्यताका नाम है अथवा कथञ्चित् तादात्म्यका नाम है? यदि अपृथक्-सिद्धत्वको अयुतसिद्धत्व माना जाय, तो वायु, धूप, छाया आदि भी अपृथक्-सिद्ध हैं और इसलिए उनमे भी द्रव्य-गुणादिकी तरह समवाय होना चाहिए और उस हालतमें उन्हें एक मानना पडेगा। फलतः पृथिवी आदि नौ द्रव्यो-का प्रतिपादन विरुद्ध तथा असंगत है। रूप, रस आदि भी अपृथक्सिद्ध है और पृथक् आश्रयमें नही रहते है। अत चौवीस गुणोका कथन भी असंगत हैं। इसलिए प्रथम पक्ष तो श्रेयस्कर नही हैं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नही हैं, क्योकि पृथक्करणकी अशक्यता द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहो पदार्थोमें है। अत इनमे भी भेद न होनेपर द्रव्यादि पृथक् छह पदार्थोंकी भी मान्यता समाप्त हो जाती है। तीसरा पक्ष स्वीकार करनेपर जैन मान्यताका प्रसग आवेगा, क्योकि जैन दर्शनमे ही द्रव्य और गुणादिमे कथञ्चित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है, वैशेपिक दर्शनमें नही। अत कथञ्चित् तादात्म्यको छोडकर समवाय सिद्ध नही होता और

समवायके सिद्ध न होनेपर 'इस द्रव्यका यह गुण है' यह व्यपदेश नही बन सकता। इसी तरह द्रव्यमें द्रव्यका व्यपदेश भी द्रव्यत्वके समवायसे माननेपर वैशेषिकोको समवायके होनेसे पहले द्रव्यका क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि द्रव्य ही द्रव्यका स्वरूप है तो यह कथन अयुक्त है, क्योकि 'द्रव्य' संज्ञा द्रव्यत्वके समवायसे होनेके कारण वह उसका स्वरूप नही हो सकती। अगर कहा जाय कि द्रव्यका सत्त्व ही द्रव्यका निज स्वरूप है तो सत्त्वका भी सत्त्व नाम सत्ताके समवायसे माना गया है, अतः सत्त्वका भी सत्तासमवायसे पूर्व क्या स्वरूप है, यह प्रश्न उठता है, जिसका कोई समाधान वैशेषिकोके यहाँ नही है। क्योकि सत्त्वको स्वय सत् माननेपर सत्ता-समवाय निरर्थक है और उसे स्वय असत् स्वीकार करनेपर खरविषाणादिकी तरह उसमें सत्ता-समवाय सम्भव नही है। इस तरह द्रव्यका अपना कोई स्वरूप नही बनता। इसी तरह गुण और कर्मके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन पदार्थ ही स्वरूपसत् होनेसे सत् कहे जा सकते हैं। और इस प्रकार तीन पदार्थोकी ही व्यवस्था बनती है।[1]

पर ये तीन पदार्थ भी स्वतन्त्र और पृथक् सिद्ध नही होते। जहाँतक सामान्यका प्रश्न है वह एक-सी नानाव्यक्तियोमे पाया जाने वाला भूय-साम्य या सदृश परिणमनके अतिरिक्त अन्य नही है। समान व्यक्तियोमे जो अनुगत व्यवहार होता है वह इसी भूय साम्य या सदृश परिणमनके कारण होता है। जिनकी अवयव-रचना समान है उनमें 'गौरयम्, गौरयम्', 'अश्वोऽयम्, अश्वोऽयम्', 'घटोऽयम्, घटोऽयम्' इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय तथा व्यवहार होता है। यह सब व्यवहार लोकसकेतपर आधारित है। लोगो ने जिसे समान रचनाके आधारपर 'गौ' या 'अश्व' या 'घट' का सकेत कर रखा है, उस समान रचनाको देखकर लोग उन शब्दोका प्रयोग या व्यवहार करते है। 'गौ' आदिमें 'गोत्व' आदि कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नही है जो

---

१ देखिए, प्रमेयरत्नमाला पृ० १६८ तथा आप्तपरीक्षा पृ० १७,१२७।

अपनी उन व्यक्तियोसे स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवाय सम्बन्धसे उनमें रहता हो। यदि ऐसा सामान्य माना जाय तो वह विभिन्न देशोमे रहनेवाली अपनी व्यक्तियोमे खण्डश रहेगा या सर्वात्मना ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। खण्डश मानने पर उसमें साशत्वका प्रसंग आवेगा—वह निरश नही रहेगा और सर्वात्मना स्वीकार करनेपर वह एक नही वन सकेगा। जितने और जहाँ-जहाँ व्यक्ति होगे उतने ही सामान्य मानने पडेंगे। अत सादृश्यरूप ही सामान्य है और वह व्यक्तियोका अपना धर्म है। 'सत्-सत्', 'द्रव्यम्-द्रव्यम्' आदि अनुगत व्यवहार इसी सादृश्यमूलक है, स्वतन्त्र सामान्य या सत्तामूलक नही।

इसी तरह विसदृश नाना व्यक्तियो या नित्य द्रव्योमे रहनेवाला अपना अलग-अलग स्वरूप, पार्थक्य अथवा बुद्धिगम्य वैलक्षण्य ही विशेष है और वह उन व्यक्तियोसे स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला नही है, क्योकि वह उन्हीका अपना उसी प्रकार धर्म है जिस प्रकार सादृश्य। जिस प्रकार एक विशेष दूसरे विशेषसे स्वत व्यावृत्त है, उसका कोई अन्य व्यावर्त्तक नही है उसी तरह समस्त व्यक्तियाँ और नित्यद्रव्य भी अपने असाधारण स्वरूपसे स्वत व्यावृत्त हैं, उनकी व्यावृत्तिके लिए स्वतन्त्र विशेष नामके अनन्त पदार्थोको माननेकी आवश्यकता नही है। सभी व्यक्तियाँ स्वय विशेष है। अत उन्हें अन्य व्यावर्त्तककी जरूरत नही है।

समवायको तो स्वतन्त्र पदार्थ माना ही नही जा सकता, क्योकि वह दो सम्वन्धियोंके सवन्धका नाम है और सम्वन्ध सम्वन्धियोसे भिन्न नही होता। वह उनसे अभिन्न, अनित्य और अनेक होता है। समवायको नित्य, व्यापक और एक स्वीकार करने पर अनेक दोष आते है।

अत वैशेपिकोके पड् पदार्थ, जो स्वतन्त्र सामान्य-विशेपोभयवादरूप है, प्रमाणका विषय—प्रमेय नही है। नरेन्द्रसेनने इसकी सयुक्तिक आलोचना करते हुए कथञ्चित् सामान्यविशेपात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक और गुण-गुण्यात्मक वस्तुको प्रमेय सिद्ध किया है।

(ई) ब्रह्म-परीक्षा :

ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियोका मत है कि यह प्रतिभासमान जगत् मात्र ब्रह्म है। ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। वही प्रमाणका विषय

वेदान्तियोके ब्रह्मवादका पूर्व पक्ष

है। प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुमान या आगम। सभी प्रमाण विधिको ही विषय करते है। प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. निर्विकल्पक और २ सविकल्पक। निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे मात्र सत्का ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान गूंगे व्यक्ति अथवा बच्चोके ज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्कसे रहित है।[1] इस प्रत्यक्षसे विधिकी तरह निषेध भी जाना जाता हो, सो बात नही है, क्योकि वह निषेधको विषय नही करता।[2] सविकल्पक प्रत्यक्षसे यद्यपि 'घट', 'पट' इत्यादि भेदकी प्रतीति होती हुई जान पडती है, किन्तु वह मिथ्या है, अविद्याके द्वारा वैसा प्रतीत होता है। यथार्थतः वह सत्तारूपसे युक्त पदार्थोका ही बोधक है। अत सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्ता मात्रका साधक है। और यह सत्ता परमब्रह्मरूप ही है।[3] अनुमान भी सत्ताका ही ज्ञापक है। वह इस प्रकार है—विधि ही वस्तु है, क्योकि वह प्रमेय है और चूंकि प्रमाणोकी विषयभूत वस्तुको प्रमेय माना गया है, अत सभी प्रमाण विधि (भाव) को ही विषय करनेमें प्रवृत्त होते हैं।[4] मीमासकोंके द्वारा स्वीकृत अभाव नामका कोई प्रमाण नही है, क्योंकि उसका विषयभूत अभाव कोई वस्तु ही नही है। अतएव विधि ही वस्तु है और वही प्रमेय है। एक अन्य अनुमानसे भी विधि-तत्त्वकी ही सिद्धि होती

---

१. देखिए, मी० श्लो० प्रत्यक्ष सू० श्लोक १२० तथा यही 'प्रमाणप्रमेयकलिका' पृष्ठ ३७।

२. देखिए, ब्रह्मसि० तर्कपाद श्लोक १ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ३७।

३ देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ३७।

४ देखिए, मी० श्लो० पृ० ४७८ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ३७।

है। वह अनुमान यह है—'ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके अन्तर्गत है, क्योकि वे प्रतिभासमान होते हैं। जैसे प्रतिभासका अपना स्वरूप।' और प्रतिभास स्वयं परमब्रह्म है। आगम-वाक्य भी उसीके प्रतिपादक हैं। उनमें स्पष्टतया कहा गया है कि 'जो हो चुका, हो रहा है और होगा, वह सब पुरुष (परमब्रह्म) ही है।'[1] जिस प्रकार विशुद्ध आकाशको तिमिर-रोगी अनेक प्रकारकी चित्र-विचित्र रेखाओसे खचित और चित्रित देखता है उसी तरह अविद्याके कारण यह निर्मल एव निर्विकार ब्रह्म अनेक प्रकारके देश, काल और आकारके भेदोसे युक्त, कलुपताको प्राप्तकी तरह प्रतीत होता है।[2]

यही ब्रह्म समस्त विश्वकी उत्पत्तिमें उसी तरह कारण है जिस तरह मकडी अपने जालेमें, चन्द्रकान्तमणि जलमे और वट अपने विभिन्न प्ररोहोमें कारण होते हैं।[3] जितने भेदात्मक परिणमन दिखायी देते है उन सबमें उसी प्रकार सद्रूपका अन्वय विद्यमान है जिस प्रकार घट, घटी, सराव आदि मिट्टीके परिणामोमे मिट्टीका अन्वय स्पष्ट देखा जाता है। अत परमब्रह्म ही प्रमाणका विषय है—प्रमेय है।

---

१ 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'

—ऋक् सं० म० १०, सू० ८०, ऋ० २।

२ 'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जन.।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममल ब्रह्म निर्विवारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्न भेदरूपं प्रपश्यति॥'

—बृहदा० भा० वा० ३, ५, ४३-४४।

३ 'ऊर्णनाभ इवांशूना चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्ष स हेतु सर्वजन्मिनाम्॥'

—उद्धृत प्रमेयक० पृ० ६५।

प्रत्यक्षसे जब हमें जड और चेतन भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और जड तथा चेतन भी देश, काल एवं आकारकी परिधिको लिये हुए अनेक मालूम पड रहे हैं तो उनका लोप कैसे किया जा सकता है ? तत्त्वकी व्यवस्था प्रतीतिके आधारपर होनी चाहिए। हाँ, सत्सामान्यकी दृष्टिसे वस्तु एक हो कर भी द्रव्य, गुण, पर्याय आदिके भेदसे वह अनेक है। अतः वस्तु कथंचित् एक और कथंचित् अनेकरूप है और यही कथंचित् एकानेकात्मक, भेदा-भेदात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक वस्तु—प्रमेय है—प्रमाणका विषय है। प्रमाणप्रमेयकलिकामें यही अनेकान्त-दृष्टि प्रस्तुत की गयी है और सप्त-भङ्गीप्रक्रियाद्वारा उसे सिद्ध किया गया है।

(उ) वक्तव्यावक्तव्यतत्त्व-परीक्षा :

बौद्ध तत्त्व (स्वलक्षणात्मक वस्तु) को अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि विकल्प और शब्द दोनो ही अनर्थजन्य हैं और इसलिए वे अर्थको विषय नहीं करते हैं। उनके द्वारा तो केवल विवक्षा अथवा अन्या-पोहमात्र कहा जाता है। अर्थ उनके द्वारा अभिहित नही होता। वह केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय है। शब्द अवस्तु है और अर्थ वस्तु। अत अवस्तु और वस्तुमें क्या सम्बन्ध ? जब उनमें सम्बन्ध ही सम्भव नही है तब शब्दके द्वारा अर्थ (स्वलक्षणात्मक तत्त्व) कैसे वाच्य हो सकता है ? अतएव तत्त्व अवक्तव्य है।

बौद्धोकी यह मान्यता स्पष्टतया स्ववचन-बाधित है। जब तत्त्व अवक्तव्य है तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नही किया जा सकता है। यदि उसे 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा 'अवक्तव्य' कहा जाता है तो वह 'अवक्तव्य' शब्दका वाच्य सुतरा हो जाता है। दूसरे, यदि शब्द अर्थ-को नही कहते—वे केवल अन्यापोहरूप सामान्यका ही प्रतिपादन करते है तो बुद्धका समस्त उपदेश वस्तु-प्रतिपादक न होनेसे मिथ्या ठहरता है और तब बुद्धके उपदेश तथा कपिलके उपदेशमें कोई अन्तर नही रहता। तीसरे, यदि वस्तु और वस्तु-धर्म सभी अवक्तव्य हैं तो शब्दोका प्रयोग

किस लिए किया जाता है ? आश्चर्य है कि शब्दो-द्वारा जो कहा जाता है वह अवस्तु है और जो वस्तु है वह उनके द्वारा कही नही जाती। ऐसी स्थितिमें शब्द-प्रयोग विना दूसरोको वस्तु-प्रतिपत्ति कैसे करायी जा सकती है ? क्योकि परार्थ-प्रतिपत्तिका एकमात्र साधन शब्द ही है और वे अर्थ-प्रतिपादक है नही। अन्ततोगत्वा बुद्धकी सब देशना निरर्थक सिद्ध होती है। अतः दूसरो (विनेयजनो) को वस्तु-प्रतिपत्ति करानेके लिए शब्दोका प्रयोग आवश्यक है और उन्हे वस्तुका प्रतिपादक मानना चाहिए।

अपि च, वास्तविक ताल्वादि-परिस्पन्दरूप कारणसे उत्पन्न होने वाले शब्द अवस्तु कैसे कहे जा सकते है ? अत शब्द वस्तु है और अर्थ भी वस्तु हैं तथा दोनोमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध मौजूद है। इसके साथ ही शब्दोमे अर्थको प्रतिपादन करनेकी स्वाभाविक योग्यता और सकेत-शक्ति भी विद्यमान है। अतएव शब्द वस्तुके प्रतिपादक है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्व अवक्तव्य नही है, किन्तु शब्दों-द्वारा वह वक्तव्य है। नरेन्द्रसेनने इस सम्बन्धमे भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए स्वामी समन्तभद्र आदि आचार्योंके वचनो-द्वारा दृढताके साथ समर्थन किया है कि वस्तु जिस प्रकार प्रमाण-द्वारा प्रमेय है उसी प्रकार वह शब्दो-द्वारा वक्तव्य भी है—वचनो-द्वारा उसका प्रतिपादन भी किया जाता है।

(ऊ) सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय-सिद्धि :

ऊपरके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते है कि प्रमेय—प्रमाणका विषय सामान्यविशेपात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, भेदाभेदात्मक एव भावाभावात्मक वस्तु है। प्रमाण इसी प्रकारकी जात्यन्तर वस्तुको विषय करता है। इस प्रकारकी प्रतीति-सिद्ध वस्तुको स्वीकार करनेमें विरोध, वैयधिकरण्य आदि कोई दोप नही है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि युग-प्रतिनिधि जैन विद्वानोने युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर प्रमेयको सामान्यविशेपात्मक सिद्ध करके अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र

जैन विद्वानोंने इस ब्रह्मवादपर विस्तृत विचार किया है और उसे युक्तिकी कसौटीपर रखकर उसका परीक्षण किया है। एक, नित्य, निरंश और व्यापक परमब्रह्मके स्वीकार करनेपर सारी लोक-व्यवस्था समाप्त हो जाती है। लोकमे नाना क्रियाओ और नाना कारकोका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह भेद अद्वैतैकान्तमे कैसे वन सकता है? एक ही वस्तु स्वय उत्पाद्य और उत्पादक दोनो नही वन सकती है। पुण्य और पाप ये दो कर्म, सुख और दु ख ये उनके दो फल, इहलोक और परलोक ये दो लोक, विद्या और अविद्या तथा वन्ध और मोक्ष ये द्वैत-युगल अद्वैतवादमें असम्भव हैं।

जैनों द्वारा ब्रह्मवादपर विचार

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न होता है कि अद्वैत ब्रह्म प्रमाणसिद्ध है या नही? यदि प्रमाणसिद्ध है तो प्रमाणसे सिद्ध करनेसे पूर्व वह साध्य-कोटिमे स्थित रहेगा और प्रमाण साधन-कोटिमे, और उस हालतमे साध्य-साधनका द्वैत अवश्य मानना पडेगा। उसे माने विना अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नही हो सकती है। यदि अद्वैत ब्रह्म प्रमाणसे सिद्ध नही है, फिर भी वह स्वीकार किया जाता है तो द्वैतवादियोका द्वैत भी क्यो न माना जाय।

प्रत्यक्षसे जो विधिकी प्रतीति कही गयी है और विधिको ही ब्रह्म वतलाया गया है वह भी युक्त प्रतीत नही होता, क्योकि प्रत्यक्षसे जहाँ 'घट. सन्, पटः सन्' इस तरह घट-पटादिकी सत्ता प्रतीत होती है वहाँ घटसे भिन्न पट और पटसे भिन्न घटकी भी प्रतीति होती है। विना भेदके अभेद स्वप्नमें भी प्रतीत नही होता। अत प्रत्यक्ष सत्ताकी तरह असत्ताको भी विषय करता है। और तव प्रत्यक्ष सत्ता-असत्ताद्वैतका साधक सिद्ध होता है—अद्वैतका साधक नही।

अनुमानसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर पक्ष, हेतु, दृष्टान्त और साध्यका भेद अवश्य स्वीकार करना पडेगा, क्योकि उनके विना अनुमान नही वनता है और उस दशामे वही द्वैतका प्रसग आता है। ऊपर जिन दो अनुमानोका उल्लेख किया गया है वे दोनो अनुमान भी निर्दोष नही हैं। प्रमेयत्व

हेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योकि 'विधि ही वस्तु है' यह पक्ष प्रत्यक्षबाधित है। प्रत्यक्षसे निषेध भी प्रतीत होता है। प्रतिभासमानत्व हेतु भी सदोष है, क्योकि ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके विषय हैं, स्वयं प्रतिभास नही हैं। जैसे दीपक आदि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले घटादि पदार्थ प्रकाशसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और उनमे प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव है उसी तरह प्रतिभास तथा प्रतिभास्य-पदार्थोमें प्रतिभास्य-प्रतिभासक-भाव है। दोनोकी एक सत्ता कदापि नही हो सकती।

आगम-वाक्योसे ब्रह्मकी सिद्धि माननेपर यह प्रश्न होगा कि वे आगम-वाक्य ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो अद्वैत कहाँ रहा ? और यदि अभिन्न है तो ब्रह्मकी तरह वे आगम-वाक्य भी साध्य-कोटिमें आ जायेंगे। यदि कहा जाय कि यह सब अविद्या-जन्य व्यवहार है और अविद्या अपरमार्थ है—वह परमार्थ अद्वैत ब्रह्ममे कोई बाधा नही पहुँचा सकती, तो यह कहना सगत प्रतीत नही होता, क्योकि अविद्या जब अपर-मार्थ है तो उसकी आड लेकर अद्वैत ब्रह्मका सरक्षण नही किया जा सकता। यत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमवाक्य ये सब यदि अपरमार्थ है तो उनसे होने वाली एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि भी अपरमार्थ ही होगी। इसके साथ ही यह प्रश्न भी होता है कि वह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत प्रसक्त होता है। और यदि अभिन्न है तो वह भी ब्रह्मकी तरह परमार्थ या उसकी तरह ब्रह्म भी अपरमार्थ सिद्ध होगा। अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोसे रहित मानना भी उचित नही है, क्योकि इतरेतराभाव आदिकी तरह अवस्तु होनेपर भी वह भिन्नाभिन्नादि विचारोका विषय हो सकती है। एक बात और है। जब ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न वास्तविक अविद्या है ही नही, तो आत्मश्रवण, मनन और निदिव्यासनद्वारा किसकी निवृत्ति की जाती है ?

'सब प्राणी एक है, सबमे ब्रह्मका अश है, सबको एक दृष्टिसे देखना चाहिए।' आदि एक प्रकारकी भावना है और तत्त्वज्ञान दूसरी बात है।

तो इसका अद्वितीय प्रतिनिधि ग्रन्थ है। नरेन्द्रसेनने एकान्त-वादोकी समीक्षा करते हुए अनेकान्तवादकी अतिसंक्षेपमें सुन्दर स्थापना की है और इस तरह उन्होने पूर्वपरम्पराका विशदीकरण करके उसका समर्थन किया है।

इस तरह यह ग्रन्थका आभ्यन्तर प्रमेय-परिचय है।

२. ग्रन्थकार

(क) ग्रन्थकर्ताका परिचय :

ग्रन्थके वाह्य और आभ्यन्तर स्वरूपपर विचार करनेके वाद अव उसके कर्ताके सम्वन्धमे विचार किया जाता है।

ग्रन्थके अन्तमें एक समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य उपलव्ध होता है और जो इस प्रकार है

'इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिताप्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता।'

इस पुष्पिका-वाक्यमें इस रचनाको 'श्रीनरेन्द्रसेन-द्वारा रचित' स्पष्ट वतलाया गया है। अत इतना तो निश्चित है कि इसके कर्ता श्रीनरेन्द्रसेन हैं। अब केवल प्रश्न यह रह जाता है कि ये नरेन्द्रसेन कौन-से नरेन्द्रसेन हैं और उनका समय, व्यक्तित्व एव कार्य क्या है, क्योकि जैन साहित्यमे नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वानोके उल्लेख मिलते है।

(ख) नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान् :

१ एक नरेन्द्रसेन तो वे हैं, जिनका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है। वह उल्लेख निम्न प्रकार है ·

विद्यानन्दमनन्तवीर्य-सुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी।
शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा॥

—न्यायवि० वि० अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक २।

इन नरेन्द्रसेनके वारेमें इस प्रशस्ति-पद्य या दूसरे साधनोंसे कोई विशेष

परिचय प्राप्त नही होता। वादिराजके इस उल्लेखपरसे इतना ही ज्ञात होता है कि ये नरेन्द्रसेन उनके पूर्ववर्ती है और वे काफी प्रभावशाली रहे हैं। आश्चर्य नही कि वादिराज उनसे उपकृत भी हुए हो और इसलिए उन्होंने विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, पूज्यपाद, दयापाल, सन्मतिसागर, कनकसेन, अकलङ्क और स्वामी समन्तभद्र जैसे समर्थ आचार्योंकी श्रेणीमे श्रद्धाके साथ उनका नामोल्लेख किया है और उन्हें निर्दोष नीति (चारित्र) का पालक कहा है। वादिराजका समय[1] शकसंवत् ९४७ (ई० १०२५) है। अत ये नरेन्द्रसेन शकसं० ९४७ से पूर्व हो गये है।

२ दूसरे नरेन्द्रसेन वे है, जिनकी गुणस्तुति मल्लिषेण सूरिने 'नागकुमारचरित' की अन्तिम प्रशस्तिमे इस प्रकार की है ·

तस्यानुजश्चारुचरित्रवृत्ति प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्ति.।
नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्र. ॥४॥

मल्लिषेणने इन नरेन्द्रसेनको यहाँ जिनसेनका अनुज बतलाया है और उन्हें उज्ज्वल चरित्रका धारक, प्रख्यातकीर्ति, पुण्यमूर्ति, वादिविजेता, तत्त्वज्ञ एव कामविजयीके रूपमें वर्णित किया है। इसी प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमे[2] उन्होंने अपनेको उनका शिष्य भी प्रकट किया है। भारतीकल्प, कामचाण्डालीकल्प, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावतीकल्प सटीक और महापुराण इन ग्रन्थोकी भी इन्होंने रचना की है[3] और इन ग्रन्थोकी प्रशस्तियोमें उन्होने अपनेको कनकसेनका[4] प्रशिष्य और जिनसेनका शिष्य बतलाया

---

१ देखिए, पार्श्वनाथचरितकी अन्तिम प्रशस्ति।

२ तच्छिष्यो विबुधाग्रणीर्गुणनिधि श्रीमल्लिषेणाह्वयः।
संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालङ्कृति ॥५॥

३ देखिए, प्रशस्तिसंग्रह प्रस्तावना पृ० ६१ (वीरसेवामन्दिर, दिल्ली संस्करण)।

४ वादिराजने भी एक कनकसेनका उल्लेख किया है, जो ऊपर

है[१]। असम्भव नही कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनो मल्लिषेणके गुरु रहे हो—दोनोंसे उन्होने भिन्न-भिन्न विषयो या एक विषयका अध्ययन किया हो। मल्लिषेण सकलागमवेदी, मन्त्रवादमें निपुण और उभय (प्राकृत-सस्कृत)-भाषा विज्ञ थे। महापुराणकी प्रशस्तिमें इन्होने अपना समय शकसवत् ९६९ (ई० १०४७) दिया है। वादिराज और मल्लिषेण दोनो प्राय. समकालीन विद्वान् हैं—उनके समयमें सिर्फ बाईस वर्षका अन्तर है। अत. मेरा अनुमान है कि जिन नरेन्द्रसेनका उल्लेख वादिराजने किया है उन्ही नरेन्द्रसेनका मल्लिषेणने किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो प्रथम नं०के नरेन्द्रसेन और ये द्वितीय नं०के नरेन्द्रसेन दोनो भिन्न नही हैं—अभिन्न ही हैं।

३. तीसरे नरेन्द्रसेन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' और 'प्रतिष्ठादीपक'के कर्ता है, जो अपनेको इन ग्रन्थोकी अन्तिम समाप्ति-पुष्पिकाओमे 'पण्डिताचार्य' की उपाधिसे भूषित प्रकट करते हैं।[२] इनके उल्लेख निम्न प्रकार हैं·

श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जात. सुशिष्यो गुणिनां विशेष्यः।
शिष्यस्तदीयोऽजनि चारुचित्त. सद्दृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेन ॥
श्रादुष्षमा-निकटवर्तिनि कालयोगे नष्टे जिनेन्द्रशिववर्त्मनि यो वभूव।

आ चुका है। जान पड़ता है कि ये कनकसेन और वादिराज-द्वारा उल्लिखित कनकसेन दोनों एक हैं।

१. देखिए, इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ अथवा उक्त प्रशस्तिसंग्रह पृ० १३४।

२ (क) 'इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्यविरचिते द्वादशोऽध्याय । समाप्तोऽय सिद्धान्तसारसंग्रहः।'

—सि सा. सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर सस्करण।

(ख) 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचित. प्रतिष्ठादीपक·।'

—देखिए, उपर्युक्त सिं. सा. सं प्रस्ता पृ. ११।

आचार्यनामनिरतोऽत्र नरेन्द्रसेनस्तेनेदमागमवचो विशदं निवद्धम् ॥
—सिद्धान्तसा० प्रश० श्लोक ९२, ९५।

इन उल्लेखोमे इन नरेन्द्रसेनने अपनेको वीरसेनका प्रशिष्य और गुणसेनका शिष्य वतलाया है। पर इन्होने अपने समयका कोई कही निर्देश नही किया। हाँ, जयसेनके धर्मरत्नाकरके आधारपर इनका अस्तित्व-काल विक्रमकी १२वी शताब्दी (११५५–११८०) समझा जाता है[1], क्योकि जयसेनके[2] धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमें दी गयी गुर्वावली तथा नरेन्द्रसेनके सिद्धान्तसारसंग्रहकी प्रशस्तिमें उल्लिखित गुर्वावली दोनो प्राय समान है। और उनसे ज्ञात होता है कि ये दोनो आचार्य एक ही गुरुपरम्परामे हुए है और नरेन्द्रसेन जयसेनकी चौथी पीढीके विद्वान् हैं। वे दोनो गुर्वावली यहाँ दी जाती हैं :

धर्मरत्नाकरमे उल्लिखित गुर्वावली[3]—

धर्मसेन
|
शान्तिषेण
|
गोपसेन
|
भावसेन
|
जयसेन

---

१ देखिए, प्रश स प्रस्ता. पृ ५३ तथा सि. सा स प्रस्ता पृ. ९।

२ जयसेनने धर्मरत्नाकरका रचना-काल इसी ग्रन्थमे निम्न प्रकार दिया है

वाणे[5]न्द्रिय[5]-व्योम[0]-सोम[1]-मिते (१०५५) सवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽय सिद्धता यात॰ सब(क)लीकरहाटके ॥

३ देखिए, प्रशस्तिसं० पृ. ३।

सिद्धान्तसारसंग्रहमें दी गयी गुर्वावली[1] .

अतः जयसेनकी चौथी पीढीमें होनेवाले ये नरेन्द्रसेन यदि जयसेनसे, जिनका समय वि. सं. १०५५ निश्चित है, १००–१२५ सौ-सवासौ वर्ष बाद होते हैं तो इन नरेन्द्रसेनका समय वि. सं. ११५५–११८० के लगभग सिद्ध होता है। ये नरेन्द्रसेन मेदार्य (मेतार्य) नामके दशवें गणधरके नामपर प्रसिद्ध मेदपाट—मेवाड भूमिके अन्तर्गत 'लाडबागड' प्रदेशसे निकले 'लाडबागडसंघ'के विद्वान् थे[2] और उपर्युक्त दोनों नरेन्द्रसेनोंसे भिन्न एवं उत्तरवर्ती हैं।

४ चौथे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख काष्ठासंघके 'लाटबागड-

1 देखिए, वही प्रशस्तिसं० पृ० १०३, १०४।

२. देखिए, वही प्रशस्ति सं० पृ० १०३, १०४।

गच्छ'की पट्टावलीमें[1] पाया जाता है और जिन्होंने अल्प-विद्या-जन्य गर्वसे युक्त 'आशाधर'को सूत्र-विरुद्ध प्ररूपणा करनेके कारण अपने गच्छसे निकाल दिया था। ये नरेन्द्रसेन **पद्मसेन**के शिष्य थे। पट्टावलीमें गुरु-शिष्योंकी एक लम्बी नामावली दी गयी है। इसमें प्रकृतसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ गुरु-शिष्योंके क्रमबद्ध नाम इस प्रकार हैं:

महेन्द्रसेन (त्रिषष्टिपुराणपुरुषचरित्रकर्ता)
|
अनन्तकीर्ति (चतुर्दशमतीर्थंकरचरित्रकर्ता)
|
विजयसेन (चन्द्रतपस्वी-विजेता)
|
चित्रसेन (पुन्नाटगच्छके स्थानमें लाडवागडगच्छके जन्मदाता)
|
पद्मसेन
|
नरेन्द्रसेन

इस पट्टावलीसे ज्ञात होता है कि ये पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन प्रभावशाली विद्वान् थे। इनके द्वारा वहिष्कृत किये गये आशाधरको[2] 'श्रेणिगच्छ'

---

१ 'तदन्वये श्रीमत्लाटवर्गट-प्रभाव-श्री**पद्मसेन**देवानां तस्य शिष्य-श्री**नरेन्द्रसेन**देवै किंचिदविद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधर स्वगच्छान्निःसारित कदाग्रहग्रस्त **श्रेणिगच्छ**मशिश्रियत्।'

—भट्टारकसम्प्रदाय पृ० २५२ पर उद्धृत पट्टा०।

२ ये आशाधर सागारधर्मामृत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्ता पण्डित आशाधर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वे गृहस्थ थे। इन्हें तो मुनि या भट्टारक होना चाहिए, जो 'लाडवागडगच्छ' से निष्कासित किये जाने-पर एक दूसरे 'कदाग्रही श्रेणिगच्छ' में जा मिले थे। यह ध्यान रहे कि गण गच्छादि मुनियों और भट्टारकोंमें होते थे, गृहस्थोंमें नहीं।

में[1] जाकर आश्रय लेना पडा था। परन्तु इसमें किसी भी विद्वान्‌के समयका उल्लेख न होनेसे उसपरसे इन नरेन्द्रसेनके समयका निर्धारण करना बडा कठिन हे। पर हाँ, आगे हम 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेनका उल्लेख करेंगे, उसपरसे इनके समयपर कुछ प्रकाश पडता है। ये पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन ऊपर चर्चित हुए प्रथम और द्वितीय नम्बरके जिनसेन-अनुज नरेन्द्रसेन तथा तीसरे नम्बरके गुणसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनसे स्पष्टत भिन्न और उनके उत्तरकालीन है।

५. पाँचवें नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख 'वीतरागस्तोत्र'मे [2] उसके कर्ता द्वारा हुआ है। इस स्तोत्रमें पद्मसेनका भी उल्लेख है और ये दोनो विद्वान् स्तोत्रकर्ताके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत हुए जान पडते है। श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने इस स्तोत्रके आठवें पद्यमे आये हुए 'कल्याण-कीर्ति-रचिताऽऽलय-कल्पवृक्षम्' पदपरसे उसे कल्याणकीर्तिकी रचना अनुमानित किया है।[3] स्तोत्रमें उल्लिखित ये पद्मसेन और नरेन्द्रसेन उपर्युक्त 'लाडवागडगच्छ' की पट्टावलीमे गुरु-शिष्यके रूपमे वर्णित पद्मसेन और नरेन्द्रसेन ही मालूम होते हैं। यदि यह सम्भावना ठीक हो तो चौथे और पाँचवे नम्बरके नरेन्द्रसेन एक ही है—पृथक् नही हैं।

६ छठे नरेन्द्रसेन 'रत्नत्रयपूजा' (संस्कृत) के कर्ता है[4], जिन्होने इसी पूजाके पुष्पिका-वाक्योमे 'श्रीलाडवागडीयपण्डिताचार्यनरेन्द्रसेन'के रूपमे अपना उल्लेख किया है। इसका एक पुष्पिका-वाक्य यह है

---

१ इस गच्छके बारेमें खोज होना चाहिए।

२ 'श्रीजैनसूरि-विनत-क्रम-पद्मसेनं हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम्'। —अनेकान्त वर्ष ८, किरण ६–७, पृष्ठ २३२।

३. देखिए, वही अनेकान्त वर्ष ८, किरण ६–७, पृष्ठ २३२।

४ देखिए, म० संप्र० पृष्ठ २५२, लेखांक ६३२।

'इति श्रीलाडवागडीयपण्डिताचार्यश्रीमन्नरेन्द्रसेन-विरचिते रत्नत्रय-पूजाविधाने दर्शनपूजा समाप्ता ।'[1]

सिद्धान्तसारसग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनकी भी 'पण्डिताचार्य' उपाधि हम ऊपर देख चुके है और ये रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन भी अपनेको 'पण्डिताचार्य' प्रकट करते है। तथा ये दोनो ही विद्वान् 'लाडवागडगच्छ' में हुए है । इससे इन दोनोकी एकताकी भ्रान्ति हो सकती है । पर ये दोनो विद्वान् एक नही है । सिद्धान्तसारसग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनने अपनी गुरु-परम्परा स्पष्ट दी है और गुणसेनको उन्होने अपना गुरु वतलाया है । परन्तु रत्नत्रयपूजाके कर्ताने न अपनी गुरुपरम्परा दी है और न गुणसेनको अपना गुरु वतलाया है । दोनोके अभिन्न होनेकी हालतमे दोनोकी गुरुपरम्परा एक होनी चाहिए । यथार्थमें रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन सिद्धान्तसारसग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनसे काफी उत्तरवर्ती हैं और इन्हें पद्मसेनका शिष्य तथा चौथे एवं पाँचवें नम्वरके नरेन्द्रसेनोंसे अभिन्न होना चाहिए । ये तीनो नरेन्द्रसेन एक ही 'लाडवागडगच्छ' में और एक ही कालमे हुए हैं । नरेन्द्रसेन पद्म-सेनके शिष्य थे और उनके अन्वयमें हुए, किन्तु उनके पट्टाधिकारी त्रिभुवन-कीर्ति थे[2] और त्रिभुवनकीर्तिके पट्टपर धर्मकीर्ति वैठे थे ।[3] इन धर्मकीर्तिके उपदेशसे वि० स० १४३१ मे केशरियाजीके एक मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी[4] तथा ये धर्मकीर्ति पद्मसेनकी दूसरी पीढोमें हुए है । अतः धर्मकीर्तिके समय वि० स० १४३१ में से लगभग ५० वर्प कम कर दिये जानेपर पद्म-सेनका समय वि० स० १३८१ सम्भावित होता है और प्राय यही काल उनके शिष्य नरेन्द्रसेनका वैठता है । अत सिद्धान्तसारसग्रहके कर्ता नरेन्द्र-सेन (वि० सं० ११५५–११८०) से २००–२२५ वर्प वाद होनेवाले 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेन (वि० स० १३८१) उनसे विलकुल

---

१ देखिए, भ० संप्र० पृष्ठ २५३, लेखाङ्क ६३३ ।

२ ३ ४ देखिए, भ० सप्र० पृष्ठ २५३, लेखाङ्क ६३५,६३६,६३८ ।

पृथक् और उत्तरवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। 'पण्डिताचार्य'की उपाधि उनके भिन्न रहनेपर भी दोनोकी सम्भव है। उससे उनकी अनेकतामें कोई वाधा नही आती। फलितार्थ यह हुआ कि चौथे, पाँचवें और छठे ये तीनो नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति है और पहले, दूसरे एव तीसरे नरेन्द्रसेनोसे वे भिन्न है।

७. सातवें नरेन्द्रसेन वे है, जो शूरस्थ (सेन) गणके पुष्कर-गच्छकी गुरुपरम्परामे छत्रसेन (वि० सं० १७५४) के पट्टाधिकारी हुए थे[1] और जिन्होने शकसवत् १६५२ (वि० स० १७८७) में कलमेश्वर (नागपुर) के एक जिनमन्दिरमे 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी थी[2]।

इस तरह विभिन्न नरेन्द्रसेनोके ये सात उल्लेख है, जो जैन साहित्यमे अनुसन्धान करनेपर उपलब्ध हुए है। इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेख अभीतक दृष्टिगोचर नही हुआ। हम ऊपर कह आये है कि पहले, और दूसरे (जिनसेन-अनुज) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति है, तीसरे (गुणसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, चौथे, पाँचवे और छठे (पद्मसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं तथा सातवें (छत्रसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति है।

---

१ 'श्रीमज्जैनमते पुरन्दरनुते श्रीमूलसंघे वरे
श्रीशूरस्थगणे प्रतापसहिते सद्भूपवृन्दस्तुते।
गच्छे पुष्करनामके सममवत् श्रीसोमसेनो गुरु.
तत्पट्टे जिनसेनसन्मतिरभूत् धर्मामृतादेशक. ॥ १ ॥
तज्जोऽभूद्धि समन्तभद्रगुणवत् शास्त्रार्थपारंगत·
तत्पट्टोदयतर्कशास्त्रकुशलो ध्यानप्रमोदान्वित।
सद्विद्यामृतवर्षणैकजलद श्रीछत्रसेनो गुरु
तत्पट्टे हि नरेन्द्रसेनचरणौ सपूजयेऽह मुदा ॥२॥'
—नरेन्द्रसेनगुरुपूजा, उद्धृत भ० संप्र० पृ० २०।

२. देखो, ज्ञानयंत्र-लेख, उद्धृत भ०संप्र० पृ० २०, लेखाङ्क ६४।

इस प्रकार पृथक् एवं स्वतत्र व्यक्तित्व रखनेवाले नरेन्द्रसेन नामके चार विद्वान् हमारे परिचयमे आते है और जो विभिन्न समयोमे पाये जाते है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है।

(ग) प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता नरेन्द्रसेन :

उक्त नरेन्द्रसेनोमें प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता सातवे नरेन्द्रसेन जान पडते हैं। इसमें ग्रन्थका अन्त परीक्षण विशेप साक्षी है। उसपरसे यह जाना जाता है कि इसके कर्ता अर्वाचीन हैं और वे तर्कशास्त्र-कुशल छत्रसेनके शिष्य सातवें नं० के नरेन्द्रमेन ही संभव हैं। 'नरेन्द्रसेन-गुरु-पूजा'मे, जो एक सुन्दर सस्कृत-रचना है और जिसमें नरेन्द्रसेनकी गुण-स्तुति एव यशोगान किया गया है, इनके गुरु छत्रसेनको 'तर्कशास्त्रकुशल' तथा दादागुरु समन्तभद्रको 'शास्त्रार्थपारगत' कहा गया है[1]। इससे विदित होता है कि ये छत्रसेन-शिष्य एव समन्तभद्र-प्रशिष्य नरेन्द्रसेन भी तर्कशास्त्री तथा 'शास्त्रार्थ-निपुण' अवश्य रहे होगे। हमारी इस सभावनाकी पुष्टि इनके एक शिष्य अर्जुनसुत सोयरा-द्वारा शक सवत् १६७३ (वि० सं० १८०८) मे रचे गये 'कैलास-छप्पय'से हो जाती है[2], जिसमें अर्जुनसुत सोयराने नरेन्द्रसेनको 'वादविजेता' (शास्त्रार्थी) और सूर्यके समान 'तेजस्वी' बतलाया है[3]। प्रमाणप्रमेयकलिका इन्ही छत्रसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनकी रचना होनी चाहिए।

---

१ देखिए, म० संप्र० पृ० २०, लेखाङ्क ६६।

२, ३ 'तस पट्टे सुखकारनाम भट्टारक जानो।
नरेन्द्रसेन पट्टधार तेजे मार्तंड वखानो॥
जीती वाद पवित्र नगर चंपापुर माहे।
करियो जिनप्रासाद ध्वजा गगने जइ सोहै॥२६॥'
—म० सप्र० पृ० २१, लेखांक ६९।

(घ) नरेन्द्रसेनकी गुरु-शिष्य-परम्परा :

(१) गुरु-परम्परा :

इन नरेन्द्रसेनके द्वारा सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमे रहते हुए वि० स० १७९०में प्रतिलिपि की गयी 'यशोधरचरित' की प्रतिमें तथा 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' मे इनकी गुरु-परम्परा निम्न प्रकार पायी जाती है[1]:

सोमसेन (अभिनव सोमसेन)
|
जिनसेन
|
समन्तभद्र
|
छत्रसेन
|
नरेन्द्रसेन

काष्ठासघ-मन्दिर, अजनगांवकी विरुदावलीमें[2] जो विस्तृत गुरु-परम्परा मिलती है उसमें उक्त नामोके अतिरिक्त सोमसेनसे पूर्व गुणभद्र, वीरसेन, श्रुतवीर, माणिक्यसेन, गुणसेन, लक्ष्मीसेन, सोमसेन (प्रथम) माणिक्यसेन (द्वितीय), गुणभद्र (द्वितीय)के भी नाम दिये गये है और उक्त सोमसेनका 'अभिनव सोमसेन'के नामसे उल्लेख है। विरुदावलीमें नरेन्द्रसेनके वाद उनके पट्टपर बैठनेवाले शान्तिसेनका भी निर्देश है। इन तीनो आधारोसे सिद्ध है कि इन नरेन्द्रसेनके साक्षात् गुरु छत्रसेन और दादागुरु समन्तभद्र थे।

(२) शिष्य-परम्परा :

इन नरेन्द्रसेनके दो शिष्योके नाम मिलते है। एक तो उपर्युल्लिखित

---

१. देखिए, भ० संप्र० पृ० २०, लेखांक ६५ तथा ६६।

२. देखिए, वही पृ० २३, लेखाक ७६।

शान्तिसेन है, जो उनके पट्टाधिकारी हुए थे।[1] और दूसरे अर्जुनसुत सोयरा है, जिन्होने 'कैलास-छप्पय' वनाया है और जिसमे उन्होने अपने गुरु नरेन्द्रसेनकी चम्पापुर-यात्राका भी वर्णन किया है।[2] ये अर्जुनसुत सोयरा गृहस्थ मालूम होते हैं। किन्तु शान्तिसेन उनके पट्टाधिकारी भट्टारक-शिष्य थे। 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा'के कर्ता यदि इन दोनोंसे भिन्न हैं तो नरेन्द्रसेनके एक तीसरे भी शिष्य रहे, जिन्होने उक्त पूजा लिखी है। शान्तिसेनकी एक शिष्या शिखरश्री नामकी आर्यिका थी, जिनका उल्लेख इन्ही आर्यिकाके शिष्य वनारसीदासने स० १८१६ मे लिखी 'हरिवस रास'की प्रतिमे किया है।[3]

(ङ) नरेन्द्रसेनका समय :

नरेन्द्रसेनका समय प्राय• सुनिश्चित है। इन्होने वि० स० १७८७ मे पूर्वोल्लिखित 'ज्ञानयन्त्र'की प्रतिष्ठा करवायी थी और वि० सं० १७९० में पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित'की प्रतिलिपि स्वय की थी। अतः इनका समय वि० स० १७८७–१७९०, ई० सन् १७३०–१७३३ है।

(च) नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य :

ये नरेन्द्रसेन एक प्रभावशाली भट्टारक विद्वान् थे। इनके प्रभावका सवसे अधिक परिचायक 'कैलास-छप्पय'का वह उल्लेख है, जिसमें उन्हे 'चंपापुर' नगरमें हुए एक 'वादका विजेता' कहा गया है और तेजस्विता में 'मार्त्तण्ड' वताया गया है। नरेन्द्रसेनने वहाँके वातावरणको प्रभावित कर वहाँ जिनमन्दिरका निर्माण कराया था, जिसकी ध्वजा गगनमें फहरा रही थी।[4] इनके एक शिष्यने इनके प्रभाव और गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर सस्कृत में 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' लिखी है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये है। इससे स्पष्ट है कि नरेन्द्रसेन एक यशस्वी, प्रभावक और शास्त्रार्थनिपुण

---

१ २ देखिए, वही पृ० ३२,२१, लेखांक ७३,६९।

३. देखिए, वही पृ० ३२, २१, लेखांक ७३, ६९।

४ देखिए, इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृष्ठ ५७ का पादटिप्पण।

विद्वान् थे तथा सास्कृतिक एव शासन-प्रभावी कार्योमे वे अग्रगण्य रहते थे ।

इन्होने जो उल्लेखनीय कार्य किये है वे निम्न प्रकार हैं

१ प्रस्तुत 'प्रमाणप्रमेयकलिका' की रचना ।

२. तत्कालीन पुरानी हिन्दीमें 'पार्श्वनाथपूजा' तथा 'वृषभनाथपालणा' इन दो जनोपयोगी 'भक्तिपूर्ण' रचनाओका निर्माण । ये दोनो रचनाएँ अप्रकाशित हैं और हमें उपलब्ध नही हो सकी । अत उनके सम्बन्धमे विशेप प्रकाश नही डाला जा सका ।

३. कलमेश्वर (नागपुर) के जिनमन्दिरमें इन्होने श्रीगोपालजी गंगरडाके द्वारा एक 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी ।

४ सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहकर पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित' की एक प्रति लिखी, जिससे इनके शास्त्र-लेखनकी विशेष प्रवृत्ति जानी जाती है।

इस तरह साहित्य, सस्कृति और शासन-प्रभावनाके क्षेत्रमे इन्होने अनेक कार्य किये हैं । इन कार्योंसे उनकी साहित्यिक एवं सास्कृतिक लगन, अभिरुचि, श्रद्धा, विद्वत्ता और शासन-प्रभावनाके प्रति विशेष अनुराग प्रकट होता है । ये तार्किक और श्रद्धालु दोनो थे ।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ और उसके कर्ताके सम्बन्धमे जो ऊपर विचार किया गया है उसमें ग्रन्थकी अन्त साक्षी और दूसरे साहित्यिक उल्लेख है । उन्हीके प्रकाशमे उक्त निष्कर्ष निकाले गये हैं । आशा है उनमे एक अभिनव ग्रन्थ और ग्रन्थकारके वारेमे कुछ जानकारी सामने आवेगी ।

२, अक्तूबर १९६१ · गाँधी–जयन्ती
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी,

—दरबारीलाल कोठिया

विषय-सूची

२. प्रमेयतत्त्वपरीक्षा २५-४६

विषय-सूची

ॐ

श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता

प्रमाणप्रमेयकलिका

[१. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा]

जयन्ति निर्जिताऽशेष-सर्वथैकान्त-नीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥१॥

[प्रमाण-प्रमेयद्वैविध्यात्तत्त्वं विभज्य प्रथमं प्रमाणतत्त्वपरीक्षा प्रस्तूयते—]

§ १. ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यन्ताम् । यतस्तत्त्वपरिज्ञानाभावान्न तदाश्रिता मीमासा प्रमाणकोटिकुटीरकमटाट्यते । आधारापरिज्ञाने आधेयपरिज्ञानाभावात् । अथ भवतु नाम नामतः सिद्धं किंचित्तत्त्वम्, यतस्तत्त्वं सामान्येनाभ्युपगम्य पश्चाद्विचार्यते, तत्त्वसामान्ये केषांचिद्विप्रतिपत्त्यभावात् । तद्विचारणायां केनचित्प्रमाणेन भवितव्यम्, प्रमाणाधीनत्वात्प्रमेयस्य[3] । तत्रापि प्रमाण-

---

१ 'आ' प्रतौ 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः । अथ प्रमाणप्रमेयकलिका लिख्यते' इति, 'द' प्रतौ च 'अथ प्रमाणप्रमेयकलिका लिख्यते' इति प्रारम्भिकाश उपलम्भते । तदनन्तरं जयन्तीत्यादिनिबद्धम् । २. अयं मङ्गलश्लोक श्रीमद्विद्यानन्दविरचिताया प्रमाणपरीक्षाया मङ्गलाचरणम् । तत एवात्र ग्रन्थकृतोद्धृत. । स्वीयग्रन्थारम्भे मङ्गलरूपतया निबद्धश्च । ३. अत्रेद विज्ञेयम्—'प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणाना प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसगः ।'—न्या० सू० २–१–१० । 'तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः'।

-न्या सू० २-१-१८। 'प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि।' —सांख्यका० ४। 'प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात् स्वत एव वा? यदि यथा प्रमेयसिद्धि. प्रमाणाधीना एव प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीना इति तस्या-प्यन्यत् तस्याप्यन्यत् इत्यनवस्था। अथ स्वत एव सिद्धिः, एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिः तथा प्रमेयस्यापि प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पन, न घटते।'—तत्त्वार्थवार्त्तिक पृ० ३५। 'ननु प्रमाणसिद्धि प्रमाणान्तरतो यदि। तदानवस्थितिर्नो चेत्प्रमाणान्वेषणं वृथा।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७८। 'सकलशून्यतामभ्युपगच्छताऽपि प्रमाणाभावस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। तथा हि—सकलशून्यवादिनोऽपि अस्ति प्रमाणम्, इष्टानिष्टयोः साधनदूषणान्यथानुपपत्तेः। न चैवमनवस्था, इष्टसिद्धेः अनिष्टप्रतिषेधस्य च प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वेन अशेषवादिना निर्विवादतः प्रमाणान्तरापेक्षानुपपत्तेः।'—न्यायकु० पृ० २२। 'ननु सिद्धेऽपि प्रमाण-सद्भावे तत्स्वरूपविशेषनिश्चयासिद्धिः, ज्ञानाज्ञानरूपतया तत्र वादिना विप्रतिपत्ते.।'—न्यायकु० पृ २३। विभिन्नवादिभिर्यानि प्रमाणलक्षणा-न्यभ्युपगतानि तानीत्थम्—तत्र सांख्या.—'प्रमीयतेऽनेन इति निर्वचनात् प्रमा प्रति करणत्वं गम्यते। असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधन प्रमाणमिति।'—सांख्यतत्त्वकौ० पृ० १९। योगद० तत्त्ववै० पृ० २७। 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थ-परिच्छित्ति प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविध प्रमाणम्।'—सांख्यद० १-८७। 'प्रमाणं वृत्तिरेव च।'—योगवा० पृ० ३०। वैशेषिकाः—'अदुष्टं विद्या।'—वैशेषि० सू० ९-२-१। 'अदुष्टेन्द्रियजन्य यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवो वा, विशेष्यवृत्तिप्रकारकानुभवो वा विद्या।'—वैशेषिक-सूत्रोपस्कार पृ० ३४४। नैयायिकाः—'उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।'—न्यायभा० पृ० ९९। न्यायवा० पृ० ५। 'सम्यगनुभवसाधन प्रमाणम्।'—न्यायसार पृ० १। 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधा-

सामान्ये न केषांचिद्विप्रतिपत्तिरस्ति, तद्विशेषे तु स्वरूप संख्या-विपय-फललक्षणाश्चतस्रो विप्रतिपत्तयो भवन्ति। ततो भवतां मते प्रमाणस्य किं स्वरूपम्। कति प्रमाणानि। को वा विषयः। किं वा फलम् इति।

वोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।'—न्यायमं० पृ० १२। 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते। मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रामातृता॥ तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्य गौतमे मते।' —न्यायकुसु० ४-५। 'तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रकर्षविशिष्टज्ञानकारणत्वं प्रमाणत्वम्।'—न्यायसू० वृ० पृ० ६। 'साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्त प्रमाणम्।'—सर्वद० स० पृ० २३३। 'प्रमाया करण प्रमाणम।'—न्यायसि० मं० पृ० १। तर्कभाषा पृ० २। 'यथार्थं प्रमाणम्।'—प्रमाणलक्षणटी० पृ० १। बौद्धाः—'स्वसवित्तिः फल चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते॥'—प्रमाणस० पृ० २४। 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।'—प्रमाणस० टी० पृ० ११। 'प्रमाणमवि-सवादिज्ञानमर्थक्रियास्थिति। अविसवादन शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्॥'—प्रमाणवा० २-१। न्यायबि० टी० पृ० ५। 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्।' न्यायबि० पृ० २५। 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाण तु सारूप्य योग्यताऽपि वा॥'—तत्त्वस० १३४४। मीमासकाः—'अनुभूतिश्च प्रमाणम्।'—प्रकरणप० पृ० ४२, शावरभाष्यवृह० १-१-५। 'एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोपवाधक-ज्ञानरहितं अगृहीतग्राहिज्ञान प्रमाण इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।'—शास्त्रदी० पृ० १५२। 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमासका आहु।'—सि० चन्द्रोदय पृ २०। 'तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित वाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मतम्॥' कुमारिल, मीमांसाश्लो० वा०।

[प्रभाकराभिमतस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यनिरासः—]

§ २. तत्रादौ तावत्स्वरूपं जागर्ति—तदेतत्किं ज्ञातृव्यापारः, इन्द्रियवृत्तिर्वा, कारकसाकल्यं वा, संनिकर्षो वा। ज्ञातृव्यापारश्चेत्[1]; स च ज्ञातुर्भिन्नोऽभिन्नो वा[2]। भिन्नश्चेत्संबन्धासिद्धिः। भेदसंब-

---

१. 'ज्ञान हि नाम क्रियात्मक, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलाऽनिष्पत्तेः।'—न्यायम० पृ० १७। 'ननु सन्निकर्ष-कारकसाकल्य-इन्द्रियवृत्तीनाम् उक्तदोषदुष्टत्वान्माभूत् प्रामाण्यम्, ज्ञातृव्यापारस्य तु भविष्यति, तमन्तरेण अर्थप्रकाशताख्यफलाऽनिष्पत्तेः। न हि व्यापारमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिः, अतिप्रसगात्। कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव उपपद्यते, 'करोतीति कारकम्' इति व्युत्पत्तेः, इतरथा हि तद् वस्तुमात्र स्यात्, न कारकम्, 'क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्' इत्यभिधानात्। 'तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसम्प्रयोगे सति ज्ञातुर्व्यापारोऽर्थप्राकट्यहेतुरुपजायते, अतोऽसौ प्रमाणम्, अर्थप्राकट्यलक्षणे फले साधकतमत्वात्, यत्पुनः प्रमाण न भवति न तत् तत्र साधकतमम्, यथा सन्निकर्षादि, साधकतमश्च तल्लक्षणे फले ज्ञातृव्यापार इति।'—न्यायकु० पृ० ४१-४२। 'एतेन प्रभाकरोऽपि 'अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्' इति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढः प्रतिपत्तव्यः, सर्वत्राज्ञानस्योपचारादेव प्रसिद्धेः। न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपस्य किंचित्प्रमाण ग्राहकम्—तद्धि प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा ? '—प्रमेयक० पृ० २०। 'तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते। तदेव च प्रमारूपं तद्वती करण च धीः॥ व्यापारो न यदा तेषा तदा नोत्पद्यते फलम्।'—मीमांसाश्लो० पृ० १५२। 'अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य आत्मन कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्पर सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षण स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञान कल्पयति।'—शास्त्रदी० पृ० २०२। २. किं च, असौ धर्मिस्वभावः, धर्मस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे ज्ञातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यता।

न्धाभ्युपगमेऽतिप्रसंगः। यथा ज्ञात्रा सह संवध्यते तथा पदार्थान्तरेणापि। भवतु वा यथाकथंचित् ज्ञातुरेव व्यापारः। स च किं क्रियात्मकोऽक्रियात्मको वा[1]। यद्याद्यः पक्षः, तदा सा क्रिया ततो भिन्नाऽभिन्ना वा। भिन्ना चेत्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः। अथ पाश्चात्यः पक्षः, तदा ज्ञातृमात्रं क्रियामात्रं वा भवति। अथाक्रियात्मकः, कथं व्यापारो नाम। व्यापारस्य क्रियारूपत्वात्। तन्नासौ भिन्नः। नाप्यभिन्नः, एकस्वरूपतापत्तेरनभ्युपगमाच्च।

द्वितीयेऽपि पक्षे धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापार अव्यतिरिक्तो वा, उभयम्, अनुभयं वा ? व्यतिरिक्तत्वे सम्बन्धाभाव । अव्यतिरिक्ते ज्ञातैव तत्स्वरूपवत्। उभयपक्षे तु विरोध । अनुभयपक्षोऽप्ययुक्त.; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणा सकृत् प्रतिषेधायोगात्, एकनिषेधेनापरविधानात् ।' प्रमेयक० पृ० २४ । 'धर्मोऽपि किमात्मनो भिन्न, अभिन्नो वा ? यद्यभिन्न., तदा 'आत्मैव' इति प्रमाणतानुपपत्ति । भेदे तु असम्बन्धात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्ति ।'—न्यायकु० पृ० ४५ ।

१ 'तथापि क्रियारूपः, अक्रियारूपो वा स्यात् ? यदि क्रियारूप , तदाऽसौ क्रिया परिस्पन्दस्वभावा, अपरिस्पन्दस्वभावा ? तत्राद्यविकल्पोऽपेशल., व्यापकत्वेनाऽऽत्मन. तथाभूतक्रियाश्रयत्वानुपपत्ते ।'' 'द्वितीयविकल्पेऽपि अपरिस्पन्द परिस्पन्दाभाव', वस्त्वन्तर वा ? यदि परिस्पन्दाभाव , तदाऽस्य फलजनकत्वानुपपत्ति', अभावस्य कार्यकारित्वविरोधात्। वस्त्वन्तरमपि किं चिद्रूपम्, अचिद्रूपम् वा ? चिद्रूपमपि किं धर्मी, धर्मो वा ? यदि धर्मी तदासौ प्रमाण न स्यत् आत्मवत्। '—न्यायकु० पृ० ४४ । 'यतोऽसौ क्रियात्मकः, अक्रियात्मको वा ? प्रथमपक्षे किं क्रिया परिस्पन्दात्मिका तद्विपरीता वा ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्त , निश्चलस्यात्मनः परिस्पन्दात्मकक्रियाया अयोगात्। नापि द्वितीय , तथाविधक्रियायाः परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य फलजनकत्वविरोधात् ।'''—प्रमेयक० पृ० २३ ।

§ ३ किं च, असौ नित्योऽनित्यो वा[1]। न तावन्नित्यः, कार्यत्वात्, घटवत्। नाप्यनित्यः, तदुत्पादककारणाभावात्। तस्योत्पादकं कारणं तावदात्मा न भवति, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधात्[2]। अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते च नित्यान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते[1]। सापि स्वव्याप्यं सत्वम्। नित्यं खरविषाणसदृशं स्यात्। तन्न ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्। तदभावात्कुतः प्रमेयसिद्धिः।

---

१. 'किं च, असौ ज्ञातृव्यापार. कारकजन्य. तदजन्यो वा ? न तावत्तदजन्यः, तथाहि—ज्ञातृव्यापारो न कारकाजन्य. व्यापारत्वात्, पाचकादिव्यापारवत्। किं च, असौ तदजन्य सन् भावरूपः, अभावरूपो वा स्यात् ? अभावरूपत्वे अर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधः। अविरोधे वा फलार्थिन. कारकान्वेषणमफलमेव स्यात्, विश्वमदरिद्रं च स्यात् कारणाभावादेवाऽखिलप्राणिनामभिमतफलसिद्धेः। अथ भावरूपः, तत्रापि किमसौ नित्य, अनित्यो वा ? नित्यत्वे सर्वस्य सर्वपदार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् प्रदीपादिकारकान्वेषणवैयर्थ्यम्, अन्धसुप्तादिव्यवहारोच्छेदानुषङ्गश्च स्यात्। अथानित्य.···· तथाप्यसौ कालान्तरस्थायी, क्षणिको वा ? प्रथमपक्षे—"क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" इति वचो विरुद्ध्यते, द्वितीयपक्षे तु क्षणादूर्ध्वं अर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गात् अन्धमूक जगत् स्यात्।'—न्यायकु० पृ० ४४। प्रमेयक० पृ० २३। २. 'नच नित्यैकरूपस्यापरिणामिनो ज्ञातुरन्यस्य वा व्यापारादिकार्यकारित्वं घटते। एतच्च "अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो" प्रपञ्चत. प्रतिपादितमस्ति।'—न्यायकु० पृ० ४५। 'अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो। क्रमाऽक्रमाभ्यां भावाना सा लक्षणतया मता ॥'—लघीयस्त्रय का० ८।

---

1. 'निवर्त्तेत' पाठः।

[सांख्याभिमताया इन्द्रियवृत्तेः प्रामाण्यनिरासः—]

§ ४. नापीन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्[१], अर्थप्रमितौ साधकतमत्वायोगात् । तदयोगस्त्वचेतनत्वात् । न ह्यचेतनोऽर्थः[1] करणम्,

१ तुलना—'एतेनेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमित्यभिदधान साख्यः प्रत्याख्यातः। ज्ञानस्वभावमुख्यप्रमाणकरणत्वात् तत्रोपचारत प्रमाणव्यवहाराभ्युपगमात् ।' —प्रमेयक० पृ० १९ । 'इन्द्रियवृत्तेः अर्थप्रमितौ साधकतमत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। इन्द्रियाणा हि वृत्तिः विषयाकारपरिणतिः । न खलु तेषा प्रतिनियतशब्दाद्याकारपरिणतिव्यतिरेकेण प्रतिनियतशब्दाद्यालोचनं घटते । अतो विषयसम्पर्कात् प्रथममिन्द्रियाणा ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः, तदनु विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्ति । अथ कस्मान्मनोवृत्तिः अक्षवृत्त्यालम्बना न शब्दाद्यालम्बना ? इति चेत्, अबहिर्वृत्तित्वात्, अन्यथा वाह्येन्द्रियकल्पनानर्थक्य स्यात्, इत्यभिदधान. साख्योऽप्येतेनैव प्रत्याख्यातः । अचेतनस्वभावाया इन्द्रियवृत्तेरप्युपचारादन्यतोऽर्थप्रमितौ साधकतमत्वानुपपत्ते ।'—न्यायकु० पृ० ४० । 'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।'—सांख्यका० २८ । 'बुद्धिरहङ्कारो मनः चक्षु इत्येतानि चत्वारि युगपद् रूप पश्यन्ति, अय स्थाणुः अयं पुरुष इति''''एवमेषा युगपच्चतुष्टयस्य वृत्ति क्रमशश्च—एव बुद्धि-अहङ्कार-मनश्चक्षुषा क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, चक्षू रूपं पश्यति, मन सकल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति।'—माठरवृ० पृ० ४७ । 'इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धे अर्थाकारा वृत्ति जायते ।'—सां० प्र० भा० पृ० ४७ । 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्षम् ।'—योगद० व्यासभा० पृ० २७ । 'प्रमाता चेतनः शुद्ध. प्रमाणं वृत्तिरेव च । प्रमाऽर्थाकारवृत्तीना चेतने प्रतिबिम्बनम् ।'—योगवा० पृ० ३० ।

1 'अचेतनोऽर्थकरण' पाठः ।

पटवत् । अचेतनत्वमिन्द्रियवृत्तेरिन्द्रियाणामचेतनत्वात् । अचेतनत्वं तेषां प्रकृतिपरिणामत्वात् । तथा चोक्तम्—'प्रकृतेर्महान्'[1]... [सांख्यका-२२] इति । ततो नेन्द्रियवृत्तेरर्थप्रमितौ साधकतमत्वम्, स्वप्रमितावसाधकतमत्वाद्, घटादिवत् ।

§ ५ किं च, इन्द्रियवृत्तिरिन्द्रियेभ्यो भिन्नाऽभिन्ना वा[1]। भिन्ना चेत्, कथमिन्द्रियवृत्तिः, अतिप्रसंगात् । भेदे सतीन्द्रियाणामेवेयं वृत्तिर्नान्येषामित्येतत्कथं [2]प्रामाण्यप्रपञ्चतामञ्चति । [3]अथाभिन्ना चेत्, तर्हि इन्द्रियाण्येव वृत्तिरेव वा भवति । ततो नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणतामुपढौकते । तथा च नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यवहितत्वात्, यद्येन व्यवहितं तन्न तत्र प्रमाणम्, यथा कुठारेण

---

१ तुलना—'तथाप्यसौ तेभ्यो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना श्रोत्रादिमात्रमेव सा, तच्च सुषुप्तादावप्यस्तीति सुप्त-प्रबुद्धयोरविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यवहाराभाव स्यात् । अथ भिन्ना, किमसौ तत्र सम्बद्धा,असम्बद्धा वा ? यद्यसम्बद्धा, कथ श्रोत्रादेरिय वृत्तिरिति व्यपदिश्येत ? यद् यत्रासम्बद्धं न तत् तस्येति व्यपदिश्यते,यथा सह्ये विन्ध्य.,असम्बद्धा च श्रोत्रादिना वृत्तिरिति। अथ सम्बद्धा; किं समवायेन,संयोगेन, विशेषणभावेन वा ?... तस्माद् इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणाया. सत्त्वासम्भवात् कथं 'विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्ति.' इति सुघटं स्यात् । इन्द्रियवृत्तेर्विषयाकारपरिणतत्वानुपपत्तौ मनोवृत्तेस्तदालम्बनत्वानुपपत्ते ।'—न्यायकु० पृ० ४१ । प्रमेयकम० पृ० १९ । 'तस्मादित्थ इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणाया सत्त्वासम्भवात् कथं विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्ति इति सुघटं स्यात् ।' —स्याद्वादरत्ना० पृ० ७३ ।

---

1 'प्रकृतिमहानिति' । 2. 'प्रामाण-प्रपञ्चता'पाठः । 3 'अथाभिन्ना चेत्' इत्यय पाठो मूले नास्ति, परं प्रकरणवशादसावावश्यक ।

व्यवहितोऽयस्कारादिः, ज्ञानेन व्यवहिता चेन्द्रियवृत्तिस्तस्मान्नार्थ-प्रमितौ करणम्।

§६. अथेदमुच्यते–कथमर्थपरिच्छित्तौ साक्षाज्ज्ञानस्य साधकतमत्वम्, येनेन्द्रियवृत्तेस्तेन व्यवहितत्वात् साधकतमत्वं नेष्यते। सत्यमेतदेव, एतद्भवताभ्युपगमात्। यच्चाभ्युपगतमपि न बुद्ध्यते, तत्र कोऽन्यो हेतुरन्यत्र महामोहात्। यदुक्तं भवताऽपि—"इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति, इन्द्रियालोचितमर्थमहङ्कारोऽभिमन्यते, अहङ्काराभिमतमर्थं[1] बुद्धिरवधारयति, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते[२]।" [ ]।

---

१ अय भाव —इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञानरूपत्वेन प्रमाणत्वायोगात्। ज्ञानरूपमेव हि प्रमाणं भवितुमर्हति, तस्यैवाज्ञाननिवर्त्तकत्वात्, प्रदीपादिवत्। इन्द्रियाणा चक्षुरादीना वृत्तिर्हि तदुद्घाटनादिरूपो व्यापार, स च जडस्वरूप। न हि तेनाज्ञाननिवृत्ति सम्भवति घटादेरिव। तस्मादिन्द्रियवृत्तेरज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमा प्रति करत्वाभावान्न प्रमाणत्वमिति।

२. "स्वार्थमिन्द्रियाणि आलोचयन्ति मन सकल्पयति अहङ्कारोऽभिमन्यते वुद्धिरव्यवस्यति इति।"– सि० वि० पृ० ५८१, उद्धृतम्। "इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति, अहङ्कारोऽभिमन्यते, मन सकल्पयति, वुद्धिरध्यवस्यति, पुरुषश्चेतयते।"—सि० वि० पृ० ५८१, उद्धृतम्।

'बुद्ध्यध्यवसित यस्मादर्थं चेतयते पुमान्।
इतीष्ट चेतना चेह सवित् सिद्धा जगत्त्रये॥'

—योगबिन्दु श्लो: ४४४, पृ० ७५।

---

1 'महङ्कारामभिमतं' पाठः।

तस्मान्नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ।

[भट्टजयन्ताभिमतस्य कारकसाकल्यस्य प्रामाण्यनिरासः—]

§ ७. नापि कारकसाकल्यम्[1], तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात् ।

---

१. तुलना—'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । बोधाऽबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम् ।'—न्यायमं० पृ० १२. कारकसाकल्यापरनामिकां सामग्री प्रमाणयन् भट्टजयन्तो न्यायमञ्जर्य्याम् तामेव सामग्री प्रमाणत्वेन समर्थयन्नाह—'यत एव साधकतमं करणं करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः, तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम् । तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि तमवर्थसंस्पर्शाऽनुपपत्तेः । अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानं, अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत् । न चातिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्.... स च सामग्र्यान्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते । सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः; सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नमेव फलम् इति सैव अतिशयवती ।'—न्यायमं० पृ० १२-१३ । भट्टजयन्तः पुनरपि तामेव प्रमाणयन्नाह—'यत्तु किमपेक्षं सामग्र्याः करणत्वम् इति, 'तदन्तर्गतकारकापेक्षम्' इति ब्रूमः । कारकाणां धर्मः सामग्री न स्वरूपहानाय तेषां कल्पते, साकल्यदशायामपि तत्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानात्...तस्मात् अन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।'—न्यायमं० पृ० १३ । अस्य कारकसाकल्यस्य प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-न्यायविनिश्चयविवरण-स्याद्वादरत्नाकरप्रभृतिषु जैनग्रन्थेषु विस्तरतः समालोचना समुपलभ्यते । तथाहि—'तत्र प्रमाणस्य 'ज्ञानम्' इति विशेषणेन 'अव्यभिचारादिविशेषण-

तत्स्वरूपं[1] हि किं सकलान्येव कारकाणि, तद्धर्मो वा, तत्कार्यं[1] वा, पदार्थान्तरं वा, गत्यन्तराभावात्। न तावदाद्यः,[2] सकलानां कार-

---

विशिष्टार्थोपलब्धिजनकं कारकसाकल्यं साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम्, तस्याऽज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावत प्रमाणत्वायोगात्, तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्याऽज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्।'' 'ततो यद्बोधाऽबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानकम्—''लिखित साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।'' इति, तत्प्रत्याख्यातम्; ज्ञानस्यैवानुपचरितप्रमाणव्यपदेशार्हत्वात्। तथा हि—यद्यत्राऽपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधकतमव्यपदेशार्हम्, यथा हि च्छिदिक्रियाया कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः। स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पित साकल्यादिकम् इति। तस्मात् कारकसाकल्यादिक साधकतमव्यपदेशार्हं न भवति।' **—प्रमेयक०** पृ० ७, ८, ९। **न्यायकु०** पृ० ३३, ३४, ३५,। **स्याद्वादरत्नाकर** पृ० ६२, ६३, ६४। **न्यायवि०** वि० पृ० ६०–६१।

१. 'किं च, स्वरूपेण प्रसिद्धस्य प्रमाणत्वादिव्यवस्था स्यान्नान्यथा, अतिप्रङ्गात्। न च साकल्यं स्वरूपेण प्रसिद्धम्। तत्स्वरूप हि सकलान्येव कारकाणि, तद्धर्मो वा स्यात्, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तर वा गत्यन्तराभावात्।'—प्रमेयक० पृ० ९। २ 'न तावत्सकलान्येव तानि साकल्यस्वरूपम्, कर्तृकर्मभावे तेषा करणत्वानुपपत्तेः। तद्भावे वा—अन्येषा कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव वा ? न तावदन्येषाम्, सकलकरकव्यतिरेकेणान्येषामभावात्। भावे वा न कारकसाकल्यम्,। नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता, करणत्वाभ्युपगमात्। न चैतेषा कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्व परस्परविरोधात्। कर्तृता हि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाधारता स्वातन्त्र्य वा, निर्वर्त्यादिधर्मयोगित्व कर्मत्वम्, करणत्वं तु प्रधानक्रियाऽनाधारत्वम्, इत्येतेषा कथमेकत्र सम्भव.। तन्न सकलकारकाणि साकल्यम्।'—प्रमेयक० पृ० ९। 'किं च, समग्रा एव

काणामेकत्रैकदा संभवाऽभावात् कथं साकल्यं नाम; तेषां परस्पर-विरोधात्। साकल्यं हि नाम प्रमाणं, तेन च करणेन भवितव्यम्। यदा तस्य कर्तृ-कर्मरूपताऽङ्गीक्रियते तदा न करणत्वम्। करणत्वे वा न कर्तृ-कर्मरूपता; कर्तृ-कर्म-करणानां सहावस्थानाभावात्, शीतोष्णवत्।

§ ८. किं च,[1] सकलान्येव कारकाणि तेषां भावः साकल्यं तदित्थं न संबोभवीति। तन्न सकलान्येव कारकाणि साकल्यम्।

§ ९. नापि तद्धर्मः,[2] स हि संयोगोऽन्यो वा। न तावत्संयोगः,

सामग्री, समग्राणां धर्मो वा। तत्राद्यपक्षे सर्वेषा फलं प्रति अन्वयव्यतिरेकानुविधानात् 'कस्य करणता' इति न विद्मः। करणं हि साधकतमम्, तमार्थश्च प्रकर्ष. कार्यं प्रति अव्यवधानेन व्यापार., स चेत् सर्वेषां तुल्यस्तदा कथं कस्यचिदेव करणत्व सिद्धयेत्।'—**न्यायकु०** पृ० ३७।

१ 'किं च, समग्राणां भावः सामग्री, भावशब्देन च तेषा सत्ता, स्वरूपमात्रम्, समुदाय, सम्बन्ध, ज्ञानजनकत्व वाऽभिधीयेत, प्रकारान्तराभावात्? तत्राद्यविकल्पद्वये अतिप्रसंग; व्यस्तावस्थायामपि तत्सत्तायाः स्वरूपस्य च सद्भावत प्रामाण्यप्रसगात्। समुदायोऽपि एकाभिप्रायतालक्षण', एकदेशे मिलनस्वभावो वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न। विषयेन्द्रियादेः निरभिप्रायत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्त; चन्द्रार्कादिविषयस्य इन्द्रियादेश्च एकदेशे मिलनाऽसम्भवात्। सम्बन्धपक्षोऽपि अनेनैव प्रत्याख्यात.; चन्द्रादेश्चक्षुरादिना सम्बन्धाभावात्, तस्याप्राप्यकारित्वात्। अथ ज्ञानजनकत्वं भावशब्देनाभिधीयते; तर्हि प्रमातृ-प्रमेययोरपि प्रमाणत्वप्रसङ्ग, तज्जनकत्वाविशेषात्, तथा च प्रतीतिसिद्धतद्व्यवस्थाविलोपः स्यात्।'—**न्यायकु०** पृ० ३७। २. 'नापि तद्धर्म—स हि सयोग., अन्यो वा? संयोगश्चेत्, न; अस्यानन्तरं विस्तरतो निषेधात्। अन्यश्चेत्, नास्य साकल्यरूपता, अतिप्रसङ्गात्, व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात्।'—**प्रमेयक०** पृ० ९।

तेषां तदसंभवात्, परस्परविरुद्धानामेकत्रावस्थानाभावाच्छीतोष्णादीनामिव, कथं नाम सयोगः प्रमाणतामञ्चति। नाप्यन्यः, तस्य साकल्यरूपत्वेऽतिप्रसंगात्। व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात्। किं चासौ[1] कारकेभ्योऽव्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा। यद्यव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रम्, कारकमात्र वा स्यात्। व्यतिरिक्तश्चेत्, सम्बन्धासिद्धिः। व्यतिरिक्ते सति यथा कारकैः सह संबध्यते तथा पदार्थान्तरै. सह संबन्धः कथं न स्यात्। तस्मात्संबन्धासम्भवात् कथं नाम कारकाणां धर्मः प्रमाणम्। ततश्च न धर्मोऽपि साकल्यम्।

§ १०. नापि तत्कार्यम्,[2] तत्कार्यत्वस्यासंभवात्। तदसंभवश्च तेषां नित्यत्वात्। कथमेवमिति चेत, नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकस्वभावत्वे च सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसंगात्। अतत्स्वभावत्वे च न क्वचित्कदाचित्कथंचिदपि तेभ्यः साकल्यलक्षणकार्योत्पत्तिः स्यात्। अथेदमुच्यते[3]–नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकस्वभावत्वे च सहकारिसव्यपेक्षतया न तेभ्यः सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः इत्यभिमन्यमानो न निर्मलमना मनीषिभिरनुमन्यते, सहकारिणां नित्यं प्रत्यनुपकारित्वात्। उपकारित्वे [1]शाश्वतेभ्यस्तैर्भिन्नः क्रियते, अभिन्नो वा।

---

१ 'किं चासौ कारकेभ्योऽव्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा? यद्यव्यतिरिक्तः तदा धर्ममात्र कारकमात्र वा स्यात्। व्यतिरिक्तश्चेत्सवन्धासिद्धि।' —प्रमेयक० पृ० ९। २. 'नापि तत्कार्यं साकल्यम्, नित्याना तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्ति, एकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिश्च स्यात्।'—प्रमेयक० पृ० १०। ३. 'सहकारिसव्यपेक्षाणा जनकत्वाद्देशकालस्वभावभेदः कार्ये न विरुद्धयत इत्यपि वार्तम्, नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षाया अयोगात्।'—प्रमेयक० पृ० ११।

---

1. 'सासनेभ्य' पाठ।

भिन्नस्य करणे तेषां न किंचिदपि [1]कृतं स्यात्। घटस्य करणे पटस्य किमायातम्। नाप्यभिन्नः, अभेदे तान्येव कृतानि भवेयुः, कथं नाम तेषां नित्यता स्यात्। ततश्च तत्कार्यमपि साकल्यं न प्रमाणतामियात्।

§ ११. नापि पदार्थान्तरम्,[१] सर्वेषामपि पदार्थान्तराणां साकल्यप्रसंगात्। तथा च सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वार्थोपलब्धिप्रसंगेन सर्वदा पदार्थान्तरसाकल्यं स्यात्। कारकाणां हि साकल्यं कारकसाकल्यं, तच्च पदार्थान्तरम् सर्वेषामपि पदार्थान्तर[राणां]-साकल्ये कथं नाम कारकसाकल्यं भवितुमर्हति। पदार्थान्तरसाकल्यमित्येवं स्यात्, कारकसाकल्यमित्येतदुन्मत्तभाषितमेव स्यात्।

§ १२. किं च, कारकेभ्यः पदार्थान्तरं साकल्यम्, तत्किं ज्ञानमन्यद्वा। आद्ये, ज्ञानमेव प्रमाणं नामान्तरेणोक्तं स्यात्। अन्यच्चेत्, तत्प्रागेवातिप्रसंगेन निरस्तं बोद्धव्यम्। तन्न कारकसाकल्यं प्रमाणम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात्, सिद्धौ वा, ज्ञानेन व्यवहितत्वाच्च न प्रमाणमिति। †

---

१ 'नापि पदार्थान्तरम्, सर्वस्य पदार्थान्तरस्य साकल्यरूपताप्रसङ्गात्, तथा च तत्सद्भावे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्यार्थोपलब्धिरिति सर्वः सर्वदर्शी स्यात्। ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेणासिद्धेः, सिद्धौ वा ज्ञानेन व्यवधानान्न प्रामाण्यम्।'—प्रमेयक० पृ० १३।

† अस्येदं तात्पर्यम्—कारकसाकल्यस्याबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्वपरज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्। अतिशयेन साधकं साधकतम्म्, साधकतमं च करणम्। करण खल्वसाधारण कारणमुच्यते। तथा च मकलाना कारकाणा साधारणासाधरणस्वभावाना साकल्यस्य—परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य—कथ सावकतमत्वमिति विचारणीयम्। साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात् इति।

---

1. 'कृतः' पाठः।

[यौगाभिमतस्य संनिकर्षस्य प्रामाण्यनिरासः—]

§ १३. नापि संनिकर्षः[1] प्रमाणम्, तस्याप्यव्यभिचारादिविशे-

---

१. तुलना—'तत्र हि सनिकर्ष एवार्थोपलब्धौ साधकतमत्वात्प्रमाणम्। साधकतमत्वं हि प्रमाणत्वेन व्याप्त न पुनर्ज्ञानित्वमज्ञानत्व, सशयादिवत्, प्रमेयार्थवच्च। तच्चार्थोपलब्धौ सनिकर्षस्यास्त्येव। न ह्यसनिकृष्टेऽर्थे ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति, सर्वस्य सर्वत्रार्थे तदुत्पत्तिप्रसगात्।'—न्यायकु० पृ० २८। 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्''' यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणंम्।' अकरणा प्रमाणोत्पत्तिरिति चेत्,'' 'न, इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावात्''''साधकतमत्वाद्वा न प्रसंग।'—न्यायवा० पृ० ५-६। 'ननु सनिकर्षविगमे किं प्रमाणम्? व्यवहितानुपलब्धिरिति ब्रूमः। यदि हि असनिकृष्टमपि चक्षुरादीन्द्रियमर्थं गृह्णीयाद् व्यवहितो ततोऽर्थ उपलभ्येत।' इन्द्रियाणा कारकत्वेन प्राप्यकरित्वात्। ससृष्टं च कारकं फलाय कल्पते इति कल्पनीयः ससर्ग। ''कारक च अप्राप्यकारि च इति चित्रम्।'—न्यायमं० पृ० ७३ तथा ४७९। अत्र जैनानामुत्तरपक्ष—'तस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वासभवात्। यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम्। 'भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्।' इत्यभिधानात्। न चैतत् सनिकर्षे संभवति तस्मिन् सत्यपि क्वचित्प्रमित्यनुपपत्तेः। आकाशादिना हि घटवत् चक्षुषः सयोगो विद्यते, न चासौ तत्र प्रमितिमुत्पादयति।'—न्यायकु० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० १४। 'सनिकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात्कुतः प्रमितिकरणत्वम्? कुतस्तरा प्रमाणत्वम्? कुतस्तमा प्रत्यक्षत्वम्? किं च, रूपप्रमितेरसनिकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्यकारित्वात्तस्य। तत सनिकर्षाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न सनिकर्षरूपतैव प्रत्यक्षस्य।'—न्या० दी० पृ० २६।

पणविशिष्टार्थप्रमितावसाधकतमत्वात् । अर्थप्रमितावसाधकतमत्वं च स्वप्रमितावसाधकतमत्वेन सिद्धम् । तथा हि—न संनिकर्षोऽर्थप्रमितौ साधकतम., स्वप्रमितावसाधकतमत्वात्, घटवत् । न ह्यचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करणम्, तद्वत् । तस्मान्न संनिकर्षः प्रमाणमन्यत्रोपचारात्, प्रदीपादिवत् । यथा प्रदीपादीनां[1] करणत्वमुपचारात् तथा संनिकर्षस्यापि ।

§ १४. किं च, अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषसंभवेन 'संनिकर्षः प्रमाणम्' इति लक्षणं नाक्षूणमुपलभ्यते परीक्षादक्षैः । तथा हि—यथा चक्षुषा सयुक्ते घटे संयोगाद् घटज्ञानम्, संयुक्तसमवायाद् रूपज्ञानम्, संयुक्तसमवेतसमवायाद् रूपत्वज्ञानम् [इति], संयोग-संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-संबन्धत्रयवशाद् [2]घट-रूप-रूपत्व-ज्ञानमुररीक्रियते भवता तथा घट-रस-रसत्व-ज्ञानमप्युररीक्रियताम्, संबन्धत्रयस्य तत्रापि सत्वात्, इत्यव्याप्तिः । संनिकर्षस्याज्ञानरूपस्य प्रामाण्ये घटादिप्रमेयार्थस्यापि प्रामाण्यप्रसंग इत्यतिव्याप्तिः । तथा चाव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषाभ्यां संनिकर्षस्य[3] प्रमाणत्वासंभवेनासंभवदोषदुष्टत्वेन च तस्य प्रामाण्यं मन्यमानो न निर्मलमना मनीषिभिरनुमन्यते । ततः कथं सनिकर्षः प्रमाणं नाम । अथ साक्षादर्थप्रमितौ साधकतमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वेन संनिकर्षः प्रमाणम्, तद्धुपचारात्प्रामाण्यमित्यायातं तस्य । मुख्यतस्तु ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्, तच्च भवतामनभ्युपगमादेव न प्रमाणतां याति । परमतप्रसंगश्च ।

§ १५. किं च, ज्ञानस्य प्रामाण्ये संनिकर्षस्य निष्फलत्वादप्रामाण्यम्, प्रमाणेन फलवता भवितव्यम्, निष्फलस्याप्रमाणत्वात् । ततो न संनिकर्षः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यवहितत्वात् ।

---

1. 'प्रदीपानां' पाठः । 2 'घटरूपत्वज्ञान' पाठः । 3 'स्याप्रमाणात्वा' पाठः ।

[पराभिमतं ज्ञातृव्यापारादिकं प्रमाणस्वरूपं समालोच्याधुना स्वमतेन 'स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानस्यैव प्रमाणत्वम्' इति निरूपयति—]

§ १६. साक्षादर्थप्रमितौ ज्ञानमेव[1] प्रमाणम्, तस्यैव साधकतमत्वात्। तदपि स्वार्थव्यवसायात्मकमेव। तथा च प्रयोगः—प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानमेव, प्रमाणत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेः। यत्तु न सम्यग्ज्ञानं स्वार्थव्यवसायात्मकं तन्न प्रमाणम्, यथा संशयादिर्घटादिश्च, प्रमाणं [च] विवादापन्नम्, तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमेव [प्रमाणं] भवितुमर्हति।

---

१ अत्र ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमित्यभ्युपगच्छता जैनाना क्रमविकसितानि प्रमाणलक्षणानि निम्नप्रकारेण दृष्टव्यानि—'तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम्।'—आप्तमी० का० १०१। 'स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्।'—स्वयम्भू० का० ६३। 'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्र वा प्रमाणम्'—सर्वार्थसि० पृ० ५८। तत्त्वार्थवा० पृ० ३५॥ 'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम्।'—लघीय० का० ६०। 'सिद्धं यन्न परापेक्ष सिद्धौ स्वपररूपयोः। तत्प्रमाण ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।' सि० वि० १–२३। 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।' अष्टश० अष्टस० पृ० १७५। 'तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं मानम्।'—त० श्लो० वा० पृ० १७४। 'सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्।'—प्रमाणप० पृ० ५१। 'कि पुनः सम्यग्ज्ञान ? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।'—प्रमाणप० पृ० ५३। 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्।'—परी० मु० १–१। 'गेण्हइ वत्थुसहाव अविरुद्ध सम्मरूव ज णाण। भणिय खु त पमाण पच्चक्खपरोक्खभेयेहिं॥'—नयचक्रस० पृ० ६५। आलापपद्धति पृ० १४५। 'सम्यग्ज्ञान पुन स्वार्थव्यवसायात्मकं विदु.।' —तत्वार्थसार १–१७। पञ्चाध्या० श्लो० ६६६। 'प्रमाणं

त्वात्, ताद्रूप्यसहिताया एव तस्यास्त प्रति नियमहेतुत्वात् ।'—प्रमेयर० २-७, पृ० ४७ । तन्न युक्तम्—'अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।'—परीक्षामु० २-८ । 'ननु यद्यर्थादजातस्यार्थरूपाननुकारिणो ज्ञानस्यार्थसाक्षात्कारित्व तदा नियतदिग्देशकालवर्तिपदार्थप्रकाशप्रतिनियमे हेतोरभावात्सर्वं विज्ञानमप्रतिनियतविषय स्यात् ।' अत्र समाधानमाहु —स्वावरणेत्यादि । अस्यायमर्थ —'स्वानि च तान्यावरणानि च स्वावरणानि तेषा क्षय उदयाभाव । तेषामेव सदवस्था उपशम तावेव लक्षणं यस्या योग्यतायास्तया हेतुभूतया प्रतिनियतमर्थ व्यवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेष । हि यस्मादर्थे । यस्मादेवं ततो नोक्तदोष इत्यर्थ. । इदमत्र तात्पर्यम्,—कल्पयित्वाऽपि ताद्रूप्य तदुत्पत्ति तदध्यवसाय च योग्यताऽवश्याऽभ्युपगन्तव्या । ताद्रूप्यस्य समानार्थैस्तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिभिस्तद्द्वयस्यापि समानार्थ-समनन्तरप्रत्ययैस्तत्त्रितयस्यापि शुक्ले शखे पीताकारज्ञानेन व्यभिचारात् योग्यताश्रयणमेव श्रेय इति ।'—प्रमेयरत्नमा० २-६ । पृ० ४९, ५० अकलङ्कदेवा अपि प्राहु —'मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारत. । कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारत ॥५७॥ यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्त विज्ञानस्य, न वहिरर्थादय । "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय." इति वालिशगीतम्, तामसखगकुलाना तमसि सति रूपदर्शनम्, आवरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसभवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणा शखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्ते । मुमूर्षूणा यथासंभवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादय. कारण ज्ञानस्य इति स्थितम् ।' अन्यच्च—'न तज्जन्म न ताद्रूप्य न तद्व्यवसिति सह । प्रत्येक वा भजन्तीह प्रामाण्य प्रति हेतुताम् ॥५८॥ नार्थ कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्ते., अतीततमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यम्, तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाभावात्, भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिविम्ब-

तदपि स्वार्थव्यवसायात्मकविशेषणविशिष्टमेव, न तु ज्ञानमात्रं किंचिदव्यवसायात्मकं वा, मिथ्याज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसंगात्।

§२०. अथ स्वसंवेदनेन्द्रिय-मनो-योगिलक्षण[1]चतुर्विधस्यापि समक्षस्याव्यवसायात्मकत्वेऽप्यविसंवादेन प्रामाण्योपपत्तेः कथं व्यवसायात्मकमेव सर्वं ज्ञानं प्रमाणम्, अनुमानस्यैव व्यवसायात्मकत्वेनाभ्युपगमात्, इति मतम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्,

---

धारिणो दृष्टा, नामूर्तं मूर्तप्रतिविम्बभृत्, अमूर्तं च ज्ञानम्, मूर्तिधर्माभावात्। न हि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत, शब्दवत्। तत तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमान त्रितय ज्ञानप्रामाण्य प्रति उपकारक स्यात् लक्षणत्वेन।' ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयाभवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसगादित्यत्रापि समाधानमाहु —'स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ परिच्छेद्य स्वतो यथा। तथा ज्ञान स्वहेतूत्थ परिच्छेदात्मक स्वत॰ ॥५६॥ अर्थज्ञानयो स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नालब्धात्मनो कर्तृकर्मस्वभाववत्। ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभावसिद्धि स्वभावत स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसगात्।'—**सविवृति-लघीयस्त्रय-प्रवचनपरि०** का० ५७, ५८, ५९। 'नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्,' 'अन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च।'—**परीक्षामु०** २–६,७।

१. तदेतच्चतुर्विध प्रत्यक्ष बौद्धविदुषा धर्मकीर्तिना न्यायविन्दावित्थं प्रतिपादितम्—'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'। 'तच्चतुर्विधम्।' 'इन्द्रियज्ञानम्।' 'स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्।' 'सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदनम्।' 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञान चेति।'—न्या० बि० पृ० १२, १३, १४।

§ १७ अथ [1]प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वाद्धेतोः प्रमाणत्वस्य न प्रकृतसाध्यं प्रति गमकत्वम्, इति मतिः, सापि स्वविकल्पकल्पनाशिल्पिकल्पितैव, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वस्य दोषाभासत्वात्। का पुनः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो वा। धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा स्यात्। न तावद्धर्मः, तस्य सर्वात्मनैवासिद्धत्वात्कथमेकदेशासिद्धत्वम्। धर्मी चेत्, तदपि न साधीयः, तस्य पक्षप्रयोगकालवद्धेतुप्रयोगकालेऽपि सिद्धत्वात्कथमसिद्धत्वं नाम। इति न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वम्।

§ १८. अथार्थज्ञानं प्रमाणं चेत्, तस्य किं फलम्। प्रमाणेन फलवता भवितव्यम्, इत्यनालोचितवचनं नैयायिकानाम्। तत्फलं[2] हि साक्षादज्ञाननिवृत्तिः। परम्परया तु हानोपादानोपेक्षा-

---

स्वपरावभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्।'—न्यायावतार का० १। 'प्रमीयन्तेऽर्थास्तै इति प्रमाणानि।'—तत्त्वा० भा० १-१२। 'प्रमाण स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।'—सन्मतित० टी० पृ०५१८। 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।'—प्रमाल० १-२। 'सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्।'—प्रमाणमी० १-१-२। स्या० मं० पृ० २२८। 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।'—न्या० दी० पृ० ९।

१. तुलना—'प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात्पदार्थाना ह्यलिङ्गता।'—मी० श्लो० श्लो० २३२। 'प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत्, का पुन प्रतिज्ञा तदेकदेशो वा। धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा। तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा।'—प्रमेयरत्न०पृ० ४०। २ तुलना—'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी। पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥'—आप्तमी० का० १०२। 'सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलिना सर्वत्रोपेक्षा मत्यादेः साक्षात्फल स्वार्थव्यामोहविच्छेद····परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादे.।'—अष्टश०

स्वरूपं [1]वाऽऽविद्धदङ्गना-प्रसिद्धं❀ कथं हन्त हन्तुं शक्यते। अन्यदुच्यते—यदर्थज्ञानं तन्नार्थजन्यमभ्युपगम्यते किन्तु स्वसामग्रीत उत्पद्य अर्थग्राहकत्वेनार्थज्ञानमित्यभिधीयते। तथा च सति ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थपरिच्छित्तिस्तु फलं [तत्] कथं निष्फलं नाम।

§ १६ अथेदमुच्यते[1]—यद्यर्थज्ञानमर्थजन्यं न भवति तदा कथं प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वम्, तदपि न धीमद्धृतिकरम्, तस्य योग्यतावशादेव तथासिद्धत्वात्। तथा चोक्तम्—"स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति" [परीक्षा० २–६]। ततः सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणत्वस्य तस्यैवोपपत्तेः।

अष्टस०पृ० २८३। 'प्रमाणस्य फल साक्षात् सिद्धि स्वार्थविनिश्चय।'—सिद्धिवि० १–३। 'अज्ञाननिवृत्ति हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।'—परीक्षामु० ५–१। 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञान प्रमितिः यदा ज्ञान तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।'—वात्स्या० भा० पृ० १७। 'प्रमाणताया सामग्र्यास्तज्ज्ञान फलमिष्यते। तस्य प्रमाणभावे तु फल हानादिबुद्धय॥'—न्या० म० पृ० ६२। 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाण तु सारूप्य योग्यताऽपि वा॥'—तत्त्वस० श्लो० १३४४।

❀ एतादृशप्रयोगोऽन्यत्रापि दृश्यते। यथा—

आविद्धदङ्गना–सिद्धमिदानीमपि दृश्यते।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु सुबह्वागम-भाषितम्॥

—योगदृष्टिसमु०, श्लोक ५५।

१ तुलना—'ननु विज्ञानमर्थजनितमर्थाकार चार्थस्य ग्राहकम्। तदुत्पत्तिमन्तरेण विषय प्रति नियमायोगात्। तदुत्पत्तेरालोकादावविशिष्ट-

---

1 'नाविद्धमगना' पाठः।

प्रत्यक्षस्याव्यवसायात्मकत्वे[1]ऽविसंवादित्वासंभवात् । अविसंवादो ह्यर्थतथाभावप्रकाशकत्वेनैव व्याप्तः । तच्च व्यवसायात्मकत्वे सत्येव भवति । तदभावेऽपि चेदर्थतथाभावप्रकाशकत्वलक्षणं प्रामाण्यं प्रमाणस्यापनीपद्यते तदा संशयादीनामपि प्रामाण्यं सिद्धिसौधशिखरं समारुह्यते । [ततो] न किंचिदेतत् । प्रत्यक्षमनुमानं वा व्यवसायात्मकं सत् प्रमाणं भवितुमर्हति । अत्र प्रयोगः— ज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकमेव, समारोपविरुद्धत्वात्, अनुमानवत्, यत्तु न स्वार्थव्यवसायात्मकं तन्न समारोपविरुद्धम्, यथा संशयादिः, समारोपविरुद्धं चेदम्, तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकमेव ।

[प्रमाणलक्षणत्वेन लक्षितस्य ज्ञानस्य स्वव्यवसायात्मकत्वसाधनम्—]

§२१. अत्रान्ये यौग-मीमांसक-सांख्या वदन्ति । अस्तु नाम व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, परं तत् अर्थव्यवसायात्मकमेव न च स्वव्यवसायात्मकम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वकायस्कन्धमारोहति । न हि सुतीक्ष्णोऽपि खड्गधारः स्वात्मानं छिनत्ति । तथा हि—ज्ञानं न स्वव्यवसात्मकम्, ज्ञ[2]कर्मत्वेनाप्रतीयमानात्, यद्व्यवसीयते तत्कर्मत्वेन प्रतीयते, यथा घटादिः, कर्मत्वेनाप्रतीयमानं च ज्ञानम्, तस्मान्न स्वव्यवसायात्मकम् । न चायमसिद्धो हेतुः । प्रमाणं कर्मत्वेनाप्रतीयमानम्, करणत्वात् । न हि यदेव करणं तदेव कर्म भवितुमर्हति । तयोः कर्मकरणयोः परस्परं विरोधात् । कर्म-करणकारकयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसंभवात् । घटादिपरिच्छेद्यं हि कर्म, परिच्छेदकस्तु-

---

1. द आ 'त्मकमेव सर्वज्ञात्वे' पाठ । 2. 'ज्ञाकर्मत्वेनाप्र०' पाठ ।

कर्त्ता, येन परिच्छिद्यते तत्करणमिति कर्तृ-कर्म-करणानां परस्पर-भेदः, भिन्नप्रत्ययविषयत्वात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारण-प्रभवत्वाच्च, घटपटादिवत्। येषां भिन्नप्रत्ययविषयत्वं ते भिन्ना एव, यथा घट-पटादयः, तथा चामी, तस्मात्तथेति। ततश्च न स्वव्यव-सायात्मकम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्।

§२२. तत्तमोविलसितम्, तथा हि—सम्यग्ज्ञानं स्वव्यवसाया-त्मकम्, अर्थव्यवसायात्मकत्वात्, यत्तु न स्वव्यवसायात्मकं तन्नार्थव्यवसायात्मकम् यथा घट-पटादि, अर्थव्यवसायात्मकं च ज्ञानम्, तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमिति[1]।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधं परिहरति—]

§२३. यदत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधक इत्युक्तम्, तदपि न पटिष्ठम्, स्वात्मनि क्रिया विरुद्ध्यते—किं धात्वर्थलक्षणा, उत्पत्ति-लक्षणा, ज्ञप्तिलक्षणा वा[1]। न तावद्धात्वर्थलक्षणा तत्र विरुद्ध्यते, तत्र तस्या[2] अविरोधात्। क्रियाया (धात्वर्थलक्षणायाः) द्विष्ठत्वात्। एका धात्वर्थलक्षणा क्रिया कर्तृस्था। अन्या च कर्मस्था।

---

१. परीक्षामुखकृताऽपि युक्ति-दृष्टान्तपुरस्सर ज्ञानस्य स्वव्यवसाया-त्मकत्व प्रसाधितम्। तदित्थम्—'स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यवसाय', 'अर्थस्येव तदुन्मुखतया', 'घटमहमात्मना वेद्मि', 'कर्मवत्कर्तृकरणक्रिया-प्रतीते', 'शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्', 'को वा तत्प्रतिभासिन-मर्थमध्यक्षमिच्छस्तदेव तथा नेच्छेत्', 'प्रदीपवत्'—परीक्षामु० १–६, ७, ८, ९, १०, ११, १२।

---

1 द प्रतौ 'वा' पाठो नास्ति। 2. 'तस्या विरोधात्' पाठ।

तदुक्तम्—

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया।
[1]समासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया ॥१॥ [ ]

§२४. या चोत्पत्तिलक्षणा स्वात्मनि विरुद्ध्यते सा विरुद्ध्यताम्, तद्विरोधस्याङ्गीकरणात्[1]। यदुक्तम्—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥

[आप्तमी० का० २४]

§२५. अथ ज्ञप्तिलक्षणा क्रिया, न सा[2] विरुद्ध्यते, कथंचित्कर्तुरभिन्नस्य करणस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि—आत्मा कर्त्ता स्वसंवेद्यो भवता [स्वीकृतः], तत्र कथं कर्मत्वं न विरुद्ध्यते? अथाऽऽत्मा कर्तृत्वेन प्रतीयमानो न विरुद्ध्यते, स्वप्रकाशरूपत्वात्, प्रदीपवत्, तर्हि तद्धर्मो ज्ञानमपि करणत्वेन प्रतीयमानं कथं विरोधमर्हति, प्रदीपभासुराकारवत्। तस्मान्न कर्तृ-कर[3]ण-क्रियाणां कथंचित्परस्परभिन्नानां स्वप्रकाशरूपाणां स्वार्थप्रकाशकत्वमाविद्वदङ्गनाप्रसिद्धतया प्रतीयमानं विरोधतामाचक्षोस्कन्द्यते। तस्मात् 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणस्य लक्षणं सिद्धम्।

इति प्रमाणतत्त्व-परीक्षा।

---

१. न हि वय स्वस्मादेव स्वस्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते इति भाव ।

---

1 'मासासिभाव' पाठ । 2. 'वि या' पाठः । 3. 'कर्म' पाठ

[२. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा]

[प्रमाणतत्त्वं परीक्ष्य सांप्रतं प्रमेयतत्त्वपरीक्षामुपक्रमते—]

§२६ ननु प्रमाणं भवतु ज्ञानरूपमज्ञानरूपं वा, परं तत्प्रमेयार्थमङ्गीक्रियते, प्रमीयते येन प्रमेयार्थस्तत्प्रमाणमिति निर्वचनात् । स च प्रमेयार्थः सामान्यं विशेषो वा, उभयमनुभयं वा, एकमनेकं वा, अनेकमप्येकधर्मात्मकमनेकधर्मात्मकं वा, परस्परनिरपेक्षं सापेक्षं वा, वस्तुस्वरूपं वक्तव्यमवक्तव्यं वा, वक्तव्यावक्तव्यं वा, सविकल्पमविकल्पं वा, भावरूपमभावरूपं वा, निरपेक्षभावाभावरूपं वा, [परस्परसापेक्षं] उभयात्मकं वा, सगुणं निर्गुणं वा, परस्परनिरपेक्षमुभयं वा, [परस्परसापेक्षं] उभयात्मकं वा, अद्वैतं द्वैतं वा, नित्यमनित्यं वा, निरपेक्षनित्यानित्यं वा, तदपि सापेक्षं वा, क्षणिकमक्षणिकं वा, क्षणिकाक्षणिकं वा, सर्वथा शून्यं वा, स्वधर्मैः सम्बद्धमसम्बद्धं वा, सक्रियमक्रियं वा, शुद्धमशुद्धं वा, उपहृतमनुहृतं वा, इति पृष्टः स्पष्टमाचष्टे ।

[तत्र प्रथमं सामान्यमेव प्रमाणस्य विषय इति मतं समालोचयति—

§२७. न तावत्सामान्यमेव प्रमाणस्य विषयः, विशेषनिरपेक्षस्य तस्यासंभवात् । यदुक्तम्—

'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।' [मी० श्लो० आकृति० श्लो० १०] इति । निराश्रयस्य सामान्यस्य क्वचित्कदाचित्कथंचित्केनचिदनुपलभ्यमानत्वात्, वन्ध्यास्तनन्धयवत् । सामान्यं[1] हि नाम समानो धर्मः सधर्मः, स च खण्ड-मुण्डादि-

---

१. अत्राय विशेष —'सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम् । तच्च घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः, गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वम् । तस्मान्न व्यक्तितोऽत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्ति ।'—न्यायदी० पृ० ११७ । 'सामान्य द्विविधम्—ऊर्ध्वतासामान्य तिर्यक् सामान्यं चेति । तत्रोर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्य द्रव्यम् । तिर्यक्सामान्य नानाद्रव्येषु पर्यायेषु

व्यक्त्यभावे[1] कुतः स्वात्मानमासादयति। तथा च प्रयोगः—नास्ति केवलं सामान्यम्, व्यक्त्यभावेऽनाश्रितत्वात्। यो हि वास्तवो धर्मः स न अनाश्रयो दृष्टः, यथा सुख-दुःख-हर्ष-विषादादिः[2], अनाश्रितश्चायम् (सामान्यरूपो धर्मः), तस्मान्नास्ति। तच्च सामान्यं वास्तवमवास्तवं वा। न तावदवास्तवम्, सौगतमतानुषङ्गात्। नापि वास्तवम्, वास्तवे तत्किं धर्मो धर्मी वा स्यात्। धर्मश्चेत्, स किं साधारणोऽसाधारणो वा। न तावदसाधारणः, तस्य विशेषरूपताऽऽपत्तेः। अथ साधारणः, स चासिद्धः, यतः कैः सह साधारणत्वं तस्य, पदार्थान्तराभावात्। तदभावश्च प्रमाणाविषयत्वात्। प्रमाणविषयत्वेन केवलं सामान्यमेवाङ्गीक्रियते [भवता]। तदित्थं न साधारणोऽपि धर्मो विचारणां प्राञ्चति। नापि धर्मी, सामान्यस्य पदार्थधर्मत्वात्। धर्मित्वेनाङ्गीक्रियमाणस्य तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात्। धर्मिणः पदार्थत्वेन सर्वैरपि लौकिकैः परीक्षकैर्वाऽङ्गीकरणात्सामान्यमात्रमेव तत्त्वमिति पक्षे कक्षीक्रियमाणे धर्मिणः कस्यचिदप्यभावात्। धर्मीसामान्यमिति सामान्यमात्रं वन्ध्यास्तनन्धयो गौर इत्यादिवत् कथं न विरोधमास्कन्दति। तस्माद्गगनारविन्दमकरन्दव्यावर्णनमिव 'सामान्यमेव प्रमाणस्य विषय' इत्यादि सर्वमनवधेयार्थविषयत्वेनोपेक्षामर्हति।

[विशेष एव प्रमाणस्य विषय इति सौगतमतमुपन्यस्य तदपि समालोचयति—]

च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम्।'—युक्त्यनुशा० टी० पृ० ९०। 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। ४–३। 'सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।' ४–४। 'परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता, मृदिव स्थासादिषु।'—४-५। परीक्षामुख।

---

1 'व्यक्त्याभावे' पाठ। 2. 'दिर्यया' पाठः।

§२८. एतेन 'विशेष एव प्रमाणस्य विषयः' इति सौगताभिमतमपि निरस्तं बोद्धव्यम्, तस्यापि केवलस्य युगसहस्रे[1]णाऽप्यप्रतिभासनात्। तदप्युक्तम्—

'सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि'।

[मी० श्लो० आकृति० श्लो० १] इति।

§२९ विशेषो[1] हि नाम व्यावृत्तिलक्षणो धर्मः, स च धर्मिणो द्रव्यस्याभावे कौतस्कुतः प्रमाणतामियृयात्। अथ द्रव्यस्य कस्यचिदपि विचार्यमाणस्याभावात् कथं विशेषाणां तदपेक्षा। स्वतन्त्रा एव विशेषाः प्रतिभासन्ते। तथा हि—विशेषा एव तत्त्वम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तद्गोचरचारित्वेनैव प्रामाण्याभ्युपगमात्, न च द्रव्यत्वसामान्यं प्रमाणतः सिद्धम्। ततो नास्ति द्रव्यम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वात्, शशविषाणवत्। तथा हि—नाध्यक्षं तत्साधकम्, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात्, सम्बद्ध-वर्तमानविषयत्वाच्च। चाक्षुषाऽध्यक्षेण रूपमेव सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते। स्पार्शनेन[2] स्पर्श एव, घ्राणजेन[3] गन्ध एव, रासनेन रस एव, श्रावणेन[4] शब्द एव, न तु रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानां परस्परपरि-

---

१ को नाम विशेष इत्याशङ्कायामाह विशेषेति। 'विशेषो नाम 'स्थूलोऽय घट, सूक्ष्म इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं घटादिस्वरूपमेव।'—न्या० दी० पृ० १२०। तदुक्त परीक्षामुखे—'विशेषश्च'। ४-६। 'पर्ययव्यतिरेकभेदात्।' ४–७। 'एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन. परिणामा पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।' ४–८। 'अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।' ४-९।

---

1. 'युगसहस्रणा' पाठ। 2 स्पार्शेन' पाठ। 3. 'घ्राणेन' पाठ। 4. 'श्रवणेन' पाठ।

द्वारेणावस्थितानां विशेषरूपाणां व्यापकं द्रव्यं [1]चाक्षुपादिप्रत्यक्षा-[2]त्सिद्धम् । तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्सद्भावः । [[3]नाप्यनुमानं तत्साधकम्, तस्य संबन्धग्रहणपूर्वकत्वात्, संबन्धग्राहकं च न किंचित्प्रमाणमस्ति]। न तावत्प्रत्यक्षं तत्संबन्धग्राहकम्, तेन तथाविधसाध्यसाधनसम्बन्धस्याग्रहणात् । द्विष्ठो हि सम्बन्धः, एकस्य ग्रहणेऽपि अन्यस्याग्रहणे तदसंभवात् । तथा चोक्तम्—

> द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
> द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम् ॥[2]
>
> [प्र० वार्तिकाल० १-२] इति ।

§३०. प्रत्यक्षस्य तदग्रहणं कुत इति चेत्, तस्य रूपादिनियत-गोचरचारित्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । पर्यायमात्रग्रहणे पर्यवसित-

---

१ तुलना—'न हि प्रत्यक्ष यावान्कश्चिद्धूम. कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहित-विषयवलोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।'—लघीय० विवृ० का० ११, अष्टस० पृ० २८०, प्रमाणपरी० पृ० ७०, प्रमेयक० ३-१३ । प्रमेयरत्न० ३-२, पृ० ३६ ।

२ इयं कारिका निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृता—तत्त्वार्थश्लो० वा० ५–२४, पृ० ४२१ । सिद्धिविनिश्चय पृ० १३० । सन्मतितर्क पृ० ४८३ । रत्नाकरावता० १–२०, पृ० ४२ । स्याद्वादर० का० १६, पृ० १३० ।

---

1. 'चक्षुरादि' पाठ· । 2. 'प्रत्यक्षासिद्धम्' पाठ· । 3. अत्र पाठ त्रुटितः प्रतीयते, अत. कोष्ठकान्तर्गतः पाठोऽस्माभिर्निक्षिप्त ।—संपादकः ।

त्वाच्च द्रव्यग्रहणे स्वप्नेऽप्यवृत्तेः । अनुमानादपि संबन्धग्रहणं नास्ति । अतएवानुमानाद् ग्रहणमनुमानान्तराद्वा । अतएव चेदन्योन्याश्रयः । सिद्धे हि द्रव्ये तल्लिङ्गस्य सम्बन्धसिद्धिस्ततत्सिद्धावनुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तराच्चेदनवस्था । [ततः] अनुमानादपि न द्रव्यसिद्धिः, किन्तु पर्याया एव तत्त्वम्, तेषामेव प्रमाणविषयत्वं सिद्धिमधिवसति[1] ।

§३१. अथेदमुच्यते–यदि विशेषा एव तत्त्वम्, तर्हि ते प्रत्यक्षत एव सिद्धाः किमनुमानसाध्यम्, येनानुमानमपि प्रमाणान्तरमाश्रीयते । अन्यच्च 'प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाणद्वैविध्यम्'[2] [प्र० वा० २-१] इति वचनमप्युन्मत्तभाषितमेव स्यात्, तदेतदप्यस्मदभिप्रायापरि-

---

१ नाप्यनुमानेन साध्यसाधनसम्बन्धग्रहणम्, 'तस्यापि देशादिविषयविशिष्टत्वेन व्याप्त्यविषयत्वात् । तद्विषयत्वे वा प्रकृतानुमानान्तरविकल्पद्वयानतिक्रमात् । तत्र प्रकृतानुमानेन व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयत्वप्रसग । व्याप्तौ हि प्रतिपन्नायामनुमानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्थाचमूरी परपक्षचमू चञ्चमीतीति नानुमानगम्या व्याप्ति. ।'—प्रमेयरत्न० २-३, पृ० ३६–३७ तथा ८९ ।

२. 'प्रमाण द्विविध मेयद्वैविध्यात्'—प्र० वा० २–१ ।
'न प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्या मेयस्यान्यस्य सभव ।'—प्र०वा०३–६३ ।
'ते हि प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाण द्विविध जगु ।
नान्य प्रमाणभेदस्य हेतुर्विषयभेदत ॥'
—न्यायमं० पृ० २७ ।

---

1. 'विषयत्वसिद्धिमधिवसति' पाठः ।

ज्ञानादेव भवताऽभाणि; स्वलक्षणानां[१] क्षणिकत्वादिसाध्येऽनुमानचरितार्थत्वात् ।

§३२. तदेतन्न तथ्यम्, ताथागतानामपि द्रव्यसामान्यस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् । 'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् द्रव्यं किमपि नास्तीति' यदुक्तं भवता तत्सर्वमपि फल्गुप्रायं स्यात्, तस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणेन सिद्धत्वात् । न प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणम्, तस्याप्यविसंवादकत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । यथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थं परिच्छिद्य वस्तूपदर्शक[1]त्वप्रापकत्वाविसम्वादकत्वेभ्यः प्रामाण्यं तथैकत्वनिबन्धनस्य प्रत्यभिज्ञानस्यापि घटादिपर्यायेषु मृद्द्रव्यस्यानुभूतस्य (अन्वयिनः) साधकत्वेनाऽऽबाल-गोपालादीनामपि प्रतीतिसिद्धत्वात्, प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमेव । ततः सिद्धं द्रव्यम्, निराश्रयाणां पर्यायादीनां स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः । तथाऽनुमानादपि द्रव्यसिद्धिः—अस्ति द्रव्यम्, पर्यायाणामन्यथानुपपद्यमानत्वात्, यत्र न द्रव्यपदार्थस्तत्र न विशेषाः, यथा मृद्द्रव्याभावे घटादयः, अनुपपद्यमानत्वं च द्रव्याभावे विशेषाणम् । तस्मात्पारमार्थिकपर्यायाणां सद्भावे द्रव्यमपि पारमार्थिकमुररीकर्त्तव्यम् । तत्कथं[2] विशेषा एव तत्त्वमिति ।

[प्रमाणविषयत्वेनाभ्युपगतं केवलं सामान्यं केवलं विशेषं च निरस्याधुना स्वमतेन सापेक्षं सामान्यविशेषोभयं प्रमाणविषयं दर्शयति—]

---

१ किं नाम स्वलक्षणम्—'यस्यार्थस्य सनिधानासंनिधानाभ्या ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम्', 'तदेव परमार्थसत्', 'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुन.', 'अन्यत्सामान्यलक्षणम्', 'सोऽनुमानस्य विषय ।'—न्यायबि० पृ० १५, १६, १७, १८ ।

---

1. 'दर्शकप्रापकत्वादपि' पाठ. । 2. 'कथ' पाठ ।

§ ३३ अथोभयं प्रमाणस्य विषयः, तत्किं सापेक्षं निरपेक्षं वा। सापेक्षं चेत्, सिद्धसाधनम्। सापेक्षयोः सामान्य-विशेषयोः कथंचित्तादात्म्याभ्युपगमेन एकत्राभिन्ने वस्तुनि स्याद्वादिभिरंगीकरणात् तथैव प्रमेयत्वस्य सिद्धत्वात्। तथा हि—जीवादितत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमेव, प्रमेयत्वात्, यत्तु न सामान्यविशेषात्मकं तन्न प्रमेयम्, यथा केवलं सामान्यं केवलो विशेषो वा, प्रमेयं चेदम्, तस्मात्सामान्यविशेषात्मकमेव। तथा चोक्तम्—'स्यात्सामान्यम्, स्याद्विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद्विशेषावक्तव्यम, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यम्' [ ] इति सप्तभङ्गैर्निरूपितत्वात्। तथा सति विरोधादिदोषाणामप्यसंभवात्। तथैव प्रतीयमानत्वात्।

[स्वमतं प्रदर्श्येदानी वैशेषिकाभिमतस्य निरपेक्षस्य सामान्यविशेषोभयस्य प्रमाणविषयत्वं निराकरोति—]

§ ३४ निरपेक्षं चेदुभयं प्रमाणस्य विषयः, न, विरोधादिदोषोपनिपातात्। [१] निरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेध-भावाभावरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसंभवात्, शीतोष्णवत्, इति विरोधः। [२] न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव

---

१ तदुक्तमकलङ्कदेवैः—'तद्द्रव्यपर्यातमाऽर्थो वहिरन्तश्च तत्त्वत।'—लघी० का० ७। 'भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धे अर्थस्य सिद्धि अनेकान्तात्। नान्तर्वहिर्वा स्वलक्षण सामान्यलक्षण वा परस्परानात्मक प्रमेय यथा मन्यते परै, द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य वुद्धौ प्रतिभासनात् न केवलं साक्षात्करण एकान्ते न सभवति, अपि तु—अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो। क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतया मता॥'—लघी० का० ८। माणिक्यनन्दिनाऽप्युक्तम्—'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय।' परीक्षामु० ४–१।

प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपताऽऽपत्तेः, ततो वैयधिकरण्यमपरम्। [३] येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरण येन च विशेषस्य तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां स्वभावाभ्यां वा। एकेनैव चेत्, न तत्, पूर्वापरविरोधात्। द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां स्वभावद्वयमधिकरोति तदाऽनवस्था, तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति। [४] संकर[1]दोषश्च—येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च। येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति। [५] येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः येन च विशेषस्तेन च सामान्यमिति व्यतिकरः[१]। [६] ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः। [७] ततश्चाप्रतिपत्तिः। [८] ततोऽभाव इति सामान्यविशेषयोः स्वतंत्रयोः केनचित्प्रमाणेन गृहीतुमशक्यत्वात्खरविषाणवदप्रमेयत्वम्। तन्न सामान्यविशेषयोः स्वतंत्रयोरेकस्मिन्नपि वस्तुन्यव्यवस्थितयोः प्रमाणविषयत्वम्, विरोधादिदोषेणाप्रमेयत्वात्। स्याद्वादिनां तु जात्यन्तर–[स्वी]–करणेन न कश्चिद्दोषो विपश्चिच्चेतसि चकास्ति।

§ ३५. अथेदमुच्यते, नैतदेवम्, द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः षडेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः तथा सति यथा यदा यः पदार्थस्तिष्ठति तदा तदुन्मुखतया यदुत्पन्नं प्रमाणं तमेव

---

१. सकरव्यतिकरयोः को भेद इत्यत्रोच्यते—सर्वेषा युगपत्प्राप्ति सकर, परस्परविषयगमनं च व्यतिकर।

---

1. 'शंकरदोष' पाठ।

विषयीकरोति। अथेदमुच्यते, कथममीषां भेदो येनैवं[1]स्यादिति [चेत्], ब्रूमः—द्रव्यादयः पदार्थाः परस्पर भिन्नाः [भिन्न-प्रत्ययविषयत्वात्],[1] भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकार्यजनकत्वात्। घट-पटवत्। य एवं त एवं दृष्टाः, यथा घटादयः। एवंविधाश्चैते सर्वे। तस्मादेवंविधा एव। तत्र न तावद् भिन्नप्रत्ययविषयत्वमसिद्धम्, इदं द्रव्यमित्यादिप्रत्ययानां प्रतीयमानत्वात्। भिन्नलक्षणलक्षितत्वमपि नासिद्धम्। तथा हि—'क्रियावद्गुणव[2]त्समवायिकारणं द्रव्यम्' [वैशे० सू० १-१-१५] इति द्रव्यलक्षणम्। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' [तत्त्वा० ५-४१] इति गुणलक्षणम्। 'उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनगमनप्रसारणानि[3] कर्माणि' [वैशे० सू० १-१-७] इति कर्मलक्षणम्। अनेकव्यक्तिनिष्ठं सामान्यम्[4]। एक-

१. तुलना—'द्रव्यपर्यायौ अत्यन्त भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्, घट-पटादिवत्'—'तथा विरुद्धधर्माध्यासतोऽपि अनयो जलाऽनलवत् भेद।' न्यायकु० पृ० ३५९। एव 'भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात्, भिन्नकालत्वात्।' इत्यपि न्यायकुमुदचन्द्रे (पृ० ३६२) प्रत्येयम्। २. अत्र वैशेषिकग्रन्थ—'रूपादीना गुणाना सर्वेषा गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्व निष्क्रियत्वमगुणत्व च (लक्षणम्)'—प्रशस्त० भा० पृ० १५९–१६१। ३. 'उत्क्षेपणादीना पञ्चानामपि कर्मत्वसम्बन्ध एकद्रव्यवत्व क्षणिकत्व मूर्तद्रव्यवृत्तित्व अगुणवत्त्व संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्व असमवायिकारणत्व" विशेष (लक्षणम्)'—प्रश० भा० पृ० १४७-१४८। ४. 'सामान्य द्विविध परमपर च। तच्चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र पर सत्ता, महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वादि अपरम्,

1 'येनेव' पाठ। 2 'क्रियावद्गुणसमवायि' पाठ।
3. 'प्रसारणकारणानि' पाठ।

व्यक्तिनिष्ठो विशेषः[1]। 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययलक्षणो यः संबन्धः [स] समवायः'[2] [प्रशस्त० पृ० ५] इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वं सर्वेषामपि प्रसिद्धम्। विभिन्नकारणप्रभवत्वं ह्यनित्यानामेव, न तु[1] नित्यानाम्, ततो[2] न भागासिद्धत्वम्। 'सदकारणवन्नित्यम्' [वैशे० सू० ४-१-१] इति नित्यलक्षणस्य व्यवस्थितत्वात्। भिन्नार्थक्रियाकारित्वं च विभिन्नकार्यजनकत्वादेव सिद्धम्। विभिन्नकार्यजनकत्वं चामीषामुभयवादिप्रसिद्धत्वादेव नासिद्धम्। ततश्चामी हेतवो नासिद्धाः। नाऽपि विरुद्धाः, विपक्षवृत्त्यभावात्। नाऽप्यनैकान्तिकाः, पक्ष-सपक्षवद्विपक्षे वृत्त्यभावात्। नाऽपि कालात्यापदिष्टाः, पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधित-[3]तत्वानुपपत्तेः। 'प्रत्यक्षादिबाधितेऽर्थे प्रवर्तमानो हेतुः कालात्यापदिष्टः'[७] [न्यायमं० पृ० १६७] इति वचनात्। नाऽपि सत्प्रति-

---

अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्य सत् विशेषाख्यामपि लभते। स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति' प्रशस्त० भा० पृ० ४ तथा १६४।

१. 'अन्तेषु भवा अन्त्या स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषा। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येषु अण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव।'—प्रशस्त० भा० पृ० १६८।

२. 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूताना यः सवन्ध इहप्रत्ययहेतु स समवाय। यथेह कुण्डे दधीति प्रत्यय सवन्धे सति दृष्टस्तथेह तन्तुषु पट, इह वीरणेषु कट, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम् इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषा सवन्ध इति ज्ञायते। न चासौ सयोग संबन्धिनामयुतसिद्धत्वात् अन्यतरकर्मादिनिमित्तासम्भवात्।'—प्रश० भा० पृ० १७१-१७२। ७. 'कालात्ययापदिष्ट कालातीत.'—न्यायसू० १-२-९। 'यथा प्राप्त हेतुप्रयोगकाल-

---

1. 'ननु' पाठ। 2. ,नतो' पाठः। 3 'बाधकत्वानुपपत्तेः' पाठ.।

पक्षाः, प्रतिपक्षसाधनस्य कस्यचिदप्यभावात्। ततः प्रत्येकं भेदेन द्रव्यादीनां प्रमाणस्य विषय इति।

§ ३६. एतदपि न धीमद्धृतिकरं नैयायिकं (वैशेषिकं)-मन्यमानानाम्, द्रव्यादीनां सर्वथा भेदता स्यात्। यदि द्रव्याद्भिन्नो गुणपदार्थः, तत्कथमस्यायं गुण इति व्यपदेशः। सम्बन्धाभावात्। तयोश्च सम्बन्धः किं समवायः संयोगो वा। न तावत्समवायः, तस्यासिद्धेः। तदसिद्धिश्च तस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। सर्वथा भेदे यः संबन्धः स कथं नाम समवायो भवितुमर्हति, कुण्डबदरवत्, [तस्य] संयोगस्यैव संभवात्।

§ ३७. अथ[1] द्रव्य-गुणयोरयुतसिद्धत्वेन समवायस्यैव संभवान्न संयोग इति। [2]अत्रायुतसिद्धत्वं नाम किमपृथक्सिद्धत्वम्, किं पृथक्कर्तुमशक्यत्वं वा, किं कथंचित्तादात्म्यं वा इति विकल्पत्रयमवतरति। प्रथमपक्षे, जलानिलादीनामप्यपृथक्सिद्धत्वेन समवायप्रसङ्गादेकत्व स्यात्। तथा च सति '[तत्र द्रव्याणि[3]] पृथिव्यप्ते-

---

मतीत्य यो हेतुरपदिश्यते स कालात्ययापदिष्ट कालातीत इत्युच्यते।' अयमर्थ —हेतोः प्रयोगकाल प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमय एव तमतीत्य प्रयुज्यमान प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवति।'—न्यायम० हेत्वाभास प्र० पृ० १६७। 'प्रत्यक्षागमविरुद्ध कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकाल तमतीत्यासावुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्नि कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्ध। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्ध।'—न्यायकलिका पृ० १५।

१ वैशेषिका अभिदधति अथेति। २. जैनास्तद् दूषयन्ति अत्रेति। ३ 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि सामान्यविशेषसञ्ज्ञोक्तानि नवैव, तद्व्यतिरेकेण सञ्ज्ञान्तरानभिधानात्।' इति मूलग्रन्थः—प्रशस्त० भा० पृ० ३।

---

1 'वर्त्तति' आ प्रतौ पाठ। 2 'स्यान्मतिरेषामेषा—ते वाता। १ पाठ।

जो-वाय्वाकाश-दिगात्म-काल-मनांसि [नवैव]' [प्रशस्त० भा० पृ० १४] इति ग्रन्थविरोध.। रूपरसादीनामप्ययुथक्सिद्धत्वेन परस्परं भेदाभावात्'चतुर्विंशतिगुणाः' [प्रशस्त० भा० पृ० ३] इत्यस्यापि विरोधः। तन्नाद्यः पक्ष. श्रेयान्। नापि द्वितीयः, तस्यापि विचार्यमाणस्य शतधा विशीर्यमाणत्वान्न विचारचतुरचेतसां चेतसि वर्वर्त्ति[1]। तथा हि—पृथक्कर्त्तुमशक्यत्वं हि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानामप्यस्ति, तेषामपि भेदाभावप्रसंगात्। 'द्रव्यादयः षडेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः' इति प्रतिज्ञा हीयते।

§ ३८ स्यान्मतिरेषा[2] ते वाताऽऽतपादीनां पृथक्कर्त्तुमशक्यत्वे भेदाभावप्रसङ्गः, तयोरप्ययुतसिद्धत्वं स्यात्। यद्येवम्, किं तर्हि नैतावता[3] अयमतिप्रसङ्गो भवतामपि बाधकः। न ह्यनेनास्माकं बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते। तस्मात्पृथक्कर्त्तुमशक्यत्वमयुतसिद्धत्वं न सिद्धिमधिवसति। नापि कथंचित्तादात्म्यम्, द्रव्यगुणयोः कथंचिदभेदप्रसङ्गात्। कथंचित्तादात्म्ये हि जैनमतप्रसङ्गेन 'षडेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः' इति प्रच्यवते[4]। ततश्च समवायस्य कथंचित्तादात्म्यमन्तरेणासिद्धेः कथमस्य द्रव्यस्यायं गुण इति व्यपदेशः सिद्ध्येत्। तन्न 'षडेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः प्रमाणस्य विषयाः' इति, किन्तु गुण-गुण्यात्मकं सामान्य-विशेषात्मकं द्रव्य-पर्यायात्मकं जात्यन्तरं प्रमाणविषयत्वेन सिद्धमिति।

[परमब्रह्म एव प्रमाणस्य विषय इति वेदान्तिनां मतं विस्तरत उपन्यस्य तत्समालोचयति—]

§ ३९. ननु परब्रह्मण एवैकस्य परमार्थतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्म्, अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्य-

---

1 'ववर्ति' द पाठ, 'वर्त्तति' आ पाठः। 2. 'स्यान्मतिरेषामेषा—ते वाता ' पाठः।'3. न भिन्नमेतावता' पाठ । 4. 'प्रच्यवते' पाठ ।

भावात्। तथा हि—प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति। प्रत्यक्षं हि द्विधा भिद्यते, निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदात्। ततश्च निर्विकल्पक-प्रत्यक्षात्सन्मात्रविषयात्तस्यैकस्यैव सिद्धिः। तथा चोक्तम्—

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बाल-मूकादि-विज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० १२०]

§ ४०. न च विधिवत्परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षतः प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः[1], तस्य निषेधाविषयत्वात्। तथा चोक्तम्—

आहुर्विधातृ[१] प्रत्यक्षं न निषेधृ[२] विपश्चितः।
नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥

[ब्रह्मसि० तर्कपाद श्लोक १]

§ ४१. यच्च सविकल्पकं प्रत्यक्षं घट-पटादिभेदसाधकं तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात्सत्ताद्वैतस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तदप्युक्तम्—'यदद्वैतं ब्रह्मणो रूपम्' [ ] इति। अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथा हि—विधिरेव तत्त्वम्, प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः। तथा चोक्तम्—

प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद्भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारे तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षते॥

[मी० श्लो० पृ० ४७८]

---

१ विधिविषयम्। २ निषेधविषयम्।

---

1 'इत्यद्वैतसि' द आ, पाठ ।

[पूर्वपक्षी मीमांसकाभिमतमभावप्रमाणं तद्विषयमभावं च निराकुर्वन् विधितत्त्वमेव प्रसाधयति—]

§ ४२. यच्चाभावाख्यं प्रमाणम्, तस्य प्रामाण्याभावात् न तत्प्रमाणम्, तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव, तेनैव[1] प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्। यत्तु न विधिरूपं तन्न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम्। तथा चेदं प्रमेयं निखिलं वस्तुरूपम्, तस्माद्विधिरूपमेव। अतो वा तत्सिद्धिः—ग्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः, तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः। आगमोऽपि तदावेदकः समुपलभ्यते—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' [ऋक्सं० म० १०, सू० ६०, ऋ० २] इति। 'श्रोतव्योऽयमात्मा निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्यः१' [बृहदा० २-४-५] इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः। कृत्रिमेणाप्याऽऽगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्[2]। उक्तं च—

'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' [छान्दोग्यो० ३।१४।१] 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन।' [बृहदा० ४-४-१]।

'आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन॥' [बृहदा० ४-३-१४] इति।

---

१. पूर्णमुपनिषद्वाक्यमिदं "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रीय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।"—बृहदा० २।४।५, ४।५।६।

---

1 'तेनैवं' पाठः। 2 'प्रतिपादकत्वात्'।

§ ४३. [किं च, अन्यतोऽपि अनुमान–] प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः। परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात्। तथा हि—सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात। यद्यद्रूपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव, यथा घट-घटी-शरावोदञ्चनादयः मृद्रूपेणैकेनान्वितत्वान्मृद्विवर्ताः, सत्त्वैकरूपेणान्वितं सकलं वस्त्विति सिद्धं ब्रह्मविवर्तत्वं निखिलभेदानामिति।

§ ४४. यदुच्यते, तत्सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोदितमिव मदनकोद्रवाद्युपयोगजनितव्यामोहमुग्धविलसितमिव निखिलमवभासते[1], विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धेन[2] वचसा किंचित्सिद्धिमधिवसति। अद्वैतमते प्रमाणमपि नास्ति। तत्सद्भावे द्वैतप्रसंगात्, अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्।

§ ४४. अथ मतम्, लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमभ्युपगम्यते, तदेतदतिशयेन बालविलसितम्, त्वन्मते लोकस्यैवासंभवात्। एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परमब्रह्मण एव सद्भावात्। अथाऽस्तु यथाकथंचित्प्रमाणमपि, तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते। न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव[3] प्रकाशकत्वाद्, अबला-बालगोपालानां तथैव प्रतिभासनात्।

§ ४५. यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकमित्युक्तम्, तदपि न धीमद्धृतिकरम्, तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्। सर्वस्यापि प्रमाणस्य[4] व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेन एकस्यैव विधिरूपस्य परमब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्।

---

1. 'निखिलमेव भासति' पाठ। 2. 'प्रमाणसिद्धान्ते न हि वचस्त.' पाठ। 3. 'प्रकाशत्वावत्' पाठः। 4. 'प्रमाणत्वस्य' पाठ।

§४६. यदप्यभाणि, 'आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्' इत्यादि, तदपि न स्वेष्टमजनिष्ट शिष्टानामिति चिन्त्यनाम् । प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्ति (त्त)-व्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव[1] प्रकाशनात् । न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन 'यदद्वैतं तत् ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्युक्तं शोभेत[2], विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य खरविषाणवदप्रतिभासनात् । तदुक्तम्—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥
[मी० श्लो० आ० श्लो० १०]

§४७. ततः सिद्धः सामान्यविशेषात्माऽनवद्यो विषय इति, एकस्य परमब्रह्मण एव विषयत्वासिद्धेः ।

§४८. यच्च 'प्रमेयत्वात्' इत्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैव निरस्तं बोद्धव्यम्, पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ 'प्रतिभासमानत्वं साधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालमित्यकलङ्कमकलङ्कशासनमेव ।

§४९. प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा, न तावत्स्वतः, घटपटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धत्वात् । परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपपद्यते, इति ।

§ ५० यच्च 'परब्रह्मणो विवर्तवर्तित्वमखिलभेदानाम्' इत्युक्तम्, तदप्यन्वेत्रन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव । न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किंचिदेतत् । अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः ।

---

1. 'वस्तुन एकाशनात्' पाठः । 2 'शोभते' पाठः ।

§ ५१ किं च, पक्ष-हेतु-दृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्पर-भिन्ना अभिन्ना वा। भेदे, द्वैतसिद्धिः। अभेदे त्वेकरूपताऽऽपत्तिस्तत्कथमेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति। यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः। तदुक्तम्—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥

[आप्तमी० का० २६]

§ ५२. 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमादपि न तत्सिद्धिः, तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेनाद्वैतं प्रति प्रामाण्यासंभवात्। वाच्य-वाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्य तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—

कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं विरुध्यते।[1]
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् बन्ध-मोक्षद्वयं तथा ॥

[आप्तमी० का० २५]

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिस्ततो न पुरुषाद्वैतमेव प्रमाणस्य विषयः।

§ ५३. नाप्यनेकमेव तत्त्वं प्रमाणस्य विषयः, तस्यापि परस्परनिरपेक्षस्य केवलसमान्यस्य विशेषस्य वा, तद्द्वयस्य वा प्रमाणाविषयत्वेन प्राक्प्ररूपितत्वात्। तन्नानेकमेव तत्त्वं [अपि तु] परस्परसापेक्षमेकमनेकं च [तत्] [2]स्याद्वादिनामभीष्टमेव।

[इत्थं नाद्वैतं नापि द्वैतं प्रमाणस्य विषय इत्यभिधाय प्रदर्श्य च परस्परसापेक्षयोरेवैकानेकयोः प्रमाणविषयत्वमिति सप्तभङ्गीनयेन प्रदर्शयति—]

§ ५४. यतः स्यादेकम्, द्रव्यापेक्षया ॥१॥ स्यादनेकम्, पर्यायापेक्षया ॥२॥ स्यादेकानेकम्, क्रमेणोभयापेक्षया ॥३॥

---

1 'च नो भवेत्' इत्याप्तमीमांसापाठ। 2 'स्याद्वादवादिनाम्–'पाठ।

स्यादवक्तव्यम्, युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥४॥ स्यादेकावक्तव्यम्, द्रव्यापेक्षत्वे सति युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्ष-या वक्तुमशक्यत्वात् ॥५॥ स्यादनेकावक्तव्यम्, पर्याया-पेक्षत्वे सति युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥६॥ स्यादेकानेकावक्तव्यम्, क्रमार्पितद्रव्यपर्यायापेक्षत्वे सति युग-पद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥७॥ इति सप्तभङ्गी

---

१ ननु केयं सप्तभङ्गी, इति चेत्, उच्यते, 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्य-वरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी।'—तत्त्वार्थवा० १-६। न्याय-विनिश्चयेऽपि श्रीमदकलङ्कदेवैरुक्तम्—

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥४५१॥

श्रीयशोविजयोऽप्याह—'एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी। इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविध-धर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविध-प्रश्नानुरोधादुपपद्यते।'—जैनतर्कभा० पृ० १६। 'ननु एकत्रापि जीवादिव-स्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनाऽनन्तभङ्गी स्यात् (न तु सप्तभङ्गी), इति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वा-नेकत्वादिकल्पनयापि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां ताव-तामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात्। सप्तविध एव प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। साऽपि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।'—अष्टस० पृ० १२५, १२६। के ते वस्तु-निष्ठाः सप्तधर्माः इत्यत्रोच्यते—(१) सत्त्वम् (२) असत्त्वम्, (३) क्रमार्पि-

प्रमाणविषयतामियर्ति ।

[प्रमाणप्रमेयभेदात्प्रतिज्ञातं द्विविधं तत्त्वं परीक्ष्याधुना तस्य वक्तव्यावक्तव्यतां परीक्षितुमुपक्रमते । तत्र 'तत्त्वं सकलविकल्पवागगोचरातीतं (अवक्तव्यम्), केवलं निर्विकल्पकप्रत्यक्षगम्यम्' इति बौद्धानां पूर्वपक्षः प्रदर्श्यते—]

§ ५५ तत्त्वं सकलविकल्पवागगोचरातीतं निर्विकल्पकस्वानुभवविषयस्वलक्षणरूपं प्रमाणविषयत्वेन जागर्त्ति । यतो विकल्पाः

तोभय सत्त्वासत्त्वाख्यम्, (४) सहार्पितोभयमवक्तव्यत्वरूपम्, (५) सत्त्वमहितमवक्तव्यत्वम्, (६) असत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (७) सत्त्वासत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वम् इति । न्यायदीपिकाकारोऽपि एतदेव प्रतिपादयति—'द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव, क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकमनेक च, युगपदुभयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्, युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शासभवात् । न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्यप्रधानभूतयो रूपवत्त्वरसवत्त्वयोर्विविक्तरूपयो. प्रतिपादनं शक्यम् । तदेतदवक्तव्यस्वरूप तत्तदभिप्रायैरुपनतेनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकभवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात् । सैपा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीति उच्यते । भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् । भप्ताना भङ्गाना ममाहार सप्तभङ्गीति सिद्धे ।'–न्या० दी० पृ० १२६–१२७ ।

१. बौद्ध. शङ्कते—तत्त्वमिति । अस्या शङ्काया अय भाव —यत् तत्त्वं स्वलक्षणम्, तच्च निर्विकल्पक परमार्थसच्च तदेव च प्रमाणविषयम् । विकल्पास्तु अवस्तुनिर्भासका तेषा नामसश्रयत्वेन शब्दोत्पन्नत्वात् । शब्दाना चार्थै सम्बन्धासम्भवात् न स्वलक्षणरूप तत्त्व तैर्विपयीक्रियते, अपि तु निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषय तत् । तत्कुत सामान्यविशेषात्माऽर्थ. प्रमाणस्य विपय इति ।

सर्वेऽपि भावाभावाद्या न वास्तवस्वलक्षणविषयास्तेषामन्यथावृत्ति-रूपतयाऽवस्तुनिर्भासमानत्वात्। विकल्पो हि नामसंश्रयो न वस्त्ववलम्बनः। न हि नाम कस्यचित्पदार्थस्य धर्मस्तस्य संज्ञा-मात्रतया संव्यवहर्तृभिर्व्यवहरणात्। 'अतद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकर्म नाम' [ ] इति भवद्भिरप्यङ्गीकरणात। उक्तं च—'अभिलापसंस-र्गवती प्रतीतिः कल्पना' [न्या० वि० पृ० १०]। न हि शब्दोऽर्थधर्मः, शब्दार्थयोः संबन्धाभावात्।

[जैनाः तत्समालोचयन्तः प्राहुः—]

§ ५६. तत्[१] कल्पितमवकल्प्यते, शब्दार्थयोर्वाच्यवाचक-संबन्धसद्भावात्सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दोऽर्थे धियमावि-र्भावयति। न च विकल्पो नामसंश्रय एव, शब्दानुच्चारणेऽपि निश्चयात्मकविज्ञानादेव यथावस्थितार्थप्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्ति-दर्शनात्। तन्न सकलविकल्पविकलं तत्त्वमित्यकलङ्कशासनम्। तथा चोक्तम्—

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पैर्विश्वाभिलापास्पदतामतीतम्।
न [1]स्वात्मवेद्यं न च तन्निगद्यं सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम्॥

[युक्त्यनु०का० १६]

---

१. जैन उत्तरयति—तत् कल्पितमवकल्प्यते इति। अस्याय भाव — भवता यदुक्त तत् कल्पनामात्रम्। यतो हि शब्दार्थयोर्वाच्यवाचक-सम्बन्धसद्भावात् सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दो अर्थे ज्ञान करोत्येव। न च विकल्पा शब्दजा एव, शब्दोच्चारणाभावेऽपि तेषा मानस-विकल्पाना व्यवसायात्मकज्ञानरूपाणा समुद्भवात्। तेषा च सामान्य-विशेषात्मार्थ एव विषय इत्यकलङ्कमेवाकलङ्कशासनम्।

---

1. 'स्वस्य वेद्य' इति युक्त्यनुशासने पाठ ।

§ ५७. तदेतत्[1] किंचित्प्रमाणविषयभूतोऽर्थः सामान्यविशेपात्मको भावाभावात्मको नित्यानित्यात्मकः । किं बहुना । अभेद-भेदाद्यानेकधर्मात्मकः [अपि] । प्रमेयत्वस्यान्यथानुपपत्तेः । यस्तु सामान्यविशेपाद्यनेकधर्मात्मको नास्ति स प्रमेयार्थो न भवति । यथा खरविषाणम् । प्रमेयार्थश्चायम् । तस्मात्सामान्यविशेपाद्यनेक-धर्मात्मकः । तदुक्तम्—

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्ख-पुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः संसर्गहानेः सकलार्थ-हानिः ॥
[युक्त्यनु०का० ५]

तथा हि—

भावेषु नित्येषु विकार-हानेर्न कारक-व्यापृ[2]त-कार्य-युक्तिः ।
न बन्ध-भोगौ[3]न च तद्विमोक्षः समन्त-दोषं [4]मतमन्यदीयम् ॥
[युक्त्यनु० का० ८]

तथा च—

[5]क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥
[आप्तमी० का० २४]

उक्तं च—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसाऽर्थम् ।
अधृष्यमन्यैः [6]सकलैः प्रवादैर्जिन । त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥
[युक्त्यनु० का० ६]

---

1. 'तदेतन्न' द पाठ । 2. 'व्यावृत' द पाठ । 3. 'भोग्यौ' पाठ । 4. 'द्वितीयम्' द पाठ । 5. 'अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि' इत्यय पाठ आप्तमीमासायाम् । 6. 'निखिलै' इति पाठो युक्त्यनुशासने ।

§ ५८. ननु यद्येवं कथमेकाधिपत्यं न भवतीति चेत्, इत्यत्राप्युक्तं समन्तभद्राचार्यैः—

काल: कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवाद-हेतुः ॥

[युक्त्यनु० का० ४]

[इति प्रमेयतत्त्व-परीक्षा]

इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता प्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता[1]।

१. द प्रतौ पाठ —'लिपिकृत-शुभचिन्तक-लेखक-दयाचन्दम्हातमा. (महात्मा) शुभमस्तु। मिति भादवा प्रथम 'शुक्लपक्षे चठि ६ रिविवासरे सवत् १८७१ का'॥ इति लेखकप्रशस्ति.॥ आ प्रतावपि अयमेव पाठ। सेय प्रति द प्रतेरेव प्रतिलिपि। यतोऽस्या आ प्रतेरन्ते लिखितम्— 'उक्त प्रति नया मन्दिर धर्मपुरा देहलीसे मँगवाकर श्री जैन सिद्धान्त-भवन आराके लिए सग्रहार्थ श्रीमान् प० के० भुजवली शास्त्रीकी अध्यक्षतामें यह प्रतिलिपि की गई। इति शुभमस्तु॥ शुभमिति मार्गशीर्षशुक्ला द्वादशी १२ चन्द्रवार विक्रमसवत् १९९१ हस्ताक्षर रोशनलाल जैन इति॥'

प्रमाणप्रमेयकलिकायाः

परिशिष्टानि

॰

वालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिवलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः ।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

—श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवः, न्यायविनिश्चये ।

१. प्रमाणप्रमेयकलिका-गतावतरणानि

२. प्रमाणप्रमेयकलिकायां निर्दिष्टा न्यायाः

३. प्रमाणप्रमेयकलिका-गत-निदर्शनवाक्यानि

४. प्रमाणप्रमेयकलिकाऽन्तर्गत-विशिष्ट-शब्दाः

५. प्रमाणप्रमेयकलिका-गत-दार्शनिक-लाक्षणिक-शब्दाः

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाके
(जो अब भारतीय ज्ञानपीठके द्वारा सञ्चालित है)

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

महापुराण [भाग १]	१०)
महापुराण [भाग २]	१०)
महापुराण [भाग ३]	६)
पद्मपुराण [भाग १]	१॥)
पद्मपुराण [भाग २]	२)
पद्मपुराण [भाग ३]	२)
हरिवशपुराण [भाग १]	२)
हरिवंशपुराण [भाग २]	१॥)
हरिवशपुराण	२॥)
न्यायकुमुदचन्द्रोदय [१]	८)
न्यायकुमुदचन्द्रोदय [२]	८॥)
जैन शिलालेख सग्रह [१]	२)
जैन शिलालेख सग्रह [२]	८)
जैन शिलालेख सग्रह [३]	१०)
वरागचरित	३)
जम्बूस्वामीचरित	१॥)
प्रद्युम्नचरित	॥)
भावसग्रहादि	२।)
सिद्धान्तसारादि	१॥)
पचसग्रह	॥।-)
रत्नकरण्डश्रावकाचार	२)
त्रिषष्टिस्मृतिसार	॥)
स्याद्वादसिद्धि	१॥)
पुरुदेवचम्पू	॥।)
अजनापवनजय	३)
रामायण	२॥)
लाटी सहिता	॥)
नीतिवाक्यामृत [शेषाश]	।)